चिता की चिनगारियाँ

—○:०:○—

लेखक

कुँवर मोहनसिंह सेंगर

———

भूमिका-लेखक

स्वर्गीय मुंशी 'प्रेमचन्द'

———

प्रकाशक

नवयुग पुस्तक-भण्डार,

बहादुरगञ्ज, इलाहाबाद

मूल्य १), सजि० १।)

प्रकाशक—
श्री० सत्यभक्त
नवयुग पुस्तक भण्डार
बहादुरगञ्ज—प्रयाग

प्रथम संस्करण फरवरी, १९३८

मुद्रक—
सतयुग प्रेस,
बहादुरगञ्ज
इलाहाबाद
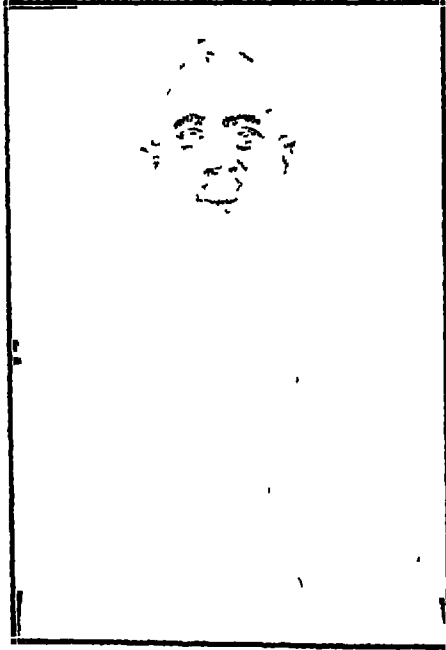
उपन्यास-सम्राट
स्वर्गीय प्रेमचन्दजी

दो शब्द

मैंने इन कहानियों में से कई पढ़ीं और उनसे आनन्दित हुआ। लेखक आदर्शवादी हैं और हरेक कहानी में उन्होंने किसी न किसी आदर्श का उदाहरण दिया है। उनका चरित्र-वैचित्र्य इसका प्रमाण है कि उन्होंने जीवन में जो कुछ देखा है, आँखें खोल कर देखा है, जो कुछ अध्ययन किया है स्वस्थ मन से किया है। और यही जीवन के अनुभव हैं जो लेखक की भावनाओं के साथ मिल कर साहित्य की वस्तु बन जाते हैं। वह समाज में क्रान्ति के इच्छुक नहीं, सुधार के इच्छुक हैं। समाज को ज्यादा न्यायशील, ज़्यादा उदार और ज़्यादा कर्तव्यपरायण देखना चाहते हैं।

वही छोटी-मोटी रोज़ होने वाली बातें—जिन्हें देखकर हम आँखें बन्द किये अपनी राह चले जाते हैं, उनसे ज़रा भी प्रभावित नहीं होते—जब साहित्य के द्वारा हमारे सामने आती हैं, तो हमारे दिल पर चोट लगती है और हमारी आँखें खुलती हैं। ऐसा कोई मनुष्य नहीं है, जिसके अन्तःकरण में सुन्दर और सत्य की भावना न हो। साहित्य हमारा यथार्थ रूप हमें दिखा कर उस भावना को जगा देता है। वही जमींदार—जो अपने आसामियों को ठोकरें मार कर लगान वसूल करता है—एक निर्दयी जमींदार का यथार्थ चित्रण देखकर चौंक उठता है।

साहित्य ही वह आईना है, जो हमें हमारी आँखों के सामने लाकर खड़ा कर देता है और हम अपना विकृत रूप देख कर जैसे शर्म से सिर झुका लेते हैं। हाँ, यह ज़रूरी है कि चित्रण में कोई अस्वाभाविकता न हो—आईना इतना ख़राब न हो कि हमारे मुँह को टेढ़ा दिखावे। इन कहानियों में कहीं-कहीं ऐसी अस्वाभाविकता खटक जाती है, पर अधिकांश में समाज का यथार्थ चित्रण ही है।

कुँअर मोहनसिंह में सौंदर्य-भावना काफी परिपक्क है और यह सिद्धि प्राप्त कर लेने के बाद लेखक कुरुचि का अपराधी नहीं हो सकता। कई कहानियों में राष्ट्र-भावना का चमत्कार है, जो लेखक की व्यापक मानवता को प्रमाणित करता है। हमें आशा है पाठक इन कहानियों को चाव से पढ़ेंगे।

काशी,
१२ अप्रैल, १९३३ } प्रेमचन्द।

लेखक

अपनी बात

जीवन के कुछ स्वप्न लेकर मैं घर से निकला था। सोचा था—कभी वे सत्य होंगे और मुझे शाश्वत शान्ति की प्राप्ति होगी। पर स्वप्नों के सत्य होने की कामना करना भी तो एक प्रकार से स्वप्न देखना ही है। मुझे नहीं मालूम था कि बचपन की नादानी और लापरवाही में पनपी हुई मधुर कल्पना को संसृति के 'हृदय' कहे जाने वाले सजीव पाषाण से टकरा कर चूर-चूर हो जाना पड़ेगा और उसकी एक दुखद स्मृति ही धरोहर के रूप में जीवन भर मेरे पास रहेगी।

मैंने हवा में क़िले खड़े किये। बड़े-बड़े महल बनाये। सुखद और मधुर स्वप्नों को एकत्र कर एक सुनहला-संसार रचा। नहीं कह सकता क्यों, पर उस समय सारी शक्तियाँ इसी ओर झुकीं थीं। सहसा झंझा का एक झकोरा आया और मेरी उस अलौकिक सृष्टि का अस्तित्व मिटा गया—छोड़ गया केवल एक करुण स्मृति, विषाद और मृत्यु से पहले पीछा न छोड़ने वाली निराशा!

संक्षेप में, यही है मेरे विफल और निराश जीवन की निरुद्देश्य कहानी।

× × ×

पर यह मेरे जीवन की कहानी का अन्त नहीं, आरम्भ मात्र है। अपनी नजरों में मैं मर चुका था, पर संसार की नजरों में मैं जीवित बना रहा। न मालूम इस काँपते-हाँफते कंकाल में—इस चलती-फिरती लाश में—उसने जीवन का आभास कैसे पाया? कह चुका हूँ, घर से मैं निकल चुका था। जो कुछ अपने साथ लेकर निकला था, वह लुट चुका था। संसार में पाँव टिक नहीं रहे थे। अब तो मैं बड़े धर्म-सङ्कट में पड़ा। जब मेरा अपने आप पर ही कुछ विश्वास न था, तो मैं दूसरों से क्या कहता-बूझता? चारों ओर घूम-फिर कर मेरी दृष्टि अपने आप पर ही आ लगी। मैंने अपना अन्तस टटोला और महाशून्य से परिचय प्राप्त किया। जीवन से निराश हो जाने वालों के लिये शायद यही एक आश्रय है। कुछ समय के लिये मैं चुप हो बैठा।

जिव्हा पर तो मैंने जैसे-तैसे काबू पा लिया, पर आँखें न मानीं। उन्होंने संसार में जो कुछ देखा, उससे कभी सजल हो उठीं और कभी मुस्करा पड़ीं। उनकी बढ़ती हुई उत्सुकता ने मेरी चुप्पी को चुनौती दी। पर बोलने का साहस तो मैं कभी का खो चुका था। किन्तु अब बिना बोले रहा जाना भी दुरूह हो चला था। अनायास मजबूरी ने मेरे हाथों को आगे बढ़ाया, प्रेरणा ने लेखनी उठवाई और बलात् दबा कर रक्खी गई अंतस की आवाज कोरे कागज पर लिपि-बद्ध हो गई। मेरे मरे हुए जीवन की यह पहली दुर्घटना थी।

× × ×

उसके बाद तुकबन्दियों और कहानियों के रूप में मैंने बहुत कुछ लिखा, किन्तु यह सब मुझ तक ही सीमित था। मेरे घनिष्ठतम मित्रों और निकटतम सम्बन्धियों तक को इसका पता न था। न मालूम कैसे, एक दिन यह रहस्य कुछ लोगों पर प्रकट हुआ, फिर कुछ अधिक पर और अब तो वह कई पत्रों के पाठकों तक पहुँच चुका है। यह सब जैसे भी हुआ हो, पर मैंने कभी इसकी कल्पना भी नहीं की थी कि मुझे अपनी चीज़ों को एक पुस्तक के रूप में सर्वसाधारण के सामने रखना होगा और विभिन्न रुचि के लोग उनके खरे-खोटे, भले-बुरे तथा न मालूम किन-किन बातों का नीर-क्षीर-विवेचन करेंगे! निश्चय ही मेरे लिये यह एक नया अनुभव होगा। अस्तु–

× × ×

हर आदमी का अपना दृष्टिकोण होता है। संसार की विविध बातों को वह अपनी आँखों से देखता है और उन पर अपने ही ढङ्ग से विचार करता है। बहुधा अनेक लोगों के दृष्टिकोण और विचार-धाराएँ एक-सी मालूम पड़ती हैं और यह एक 'प्रणाली' का रूप धारण कर लेती हैं। प्रचलित प्रणाली के प्रतिकूल कोई बात कहना बुद्धि के साथ-साथ जीवट का भी काम है। पुरानी ग़ुलामी के कारण हमारे देश में विचार-परम्परा की यह प्रणाली इतनी घातक, जटिल और दक़ियानूसी बन गई है कि पग-पग पर आज हम नये विचारवालों को उसकी अनुपयोगिता और असामयिकता खटकती है। हमारी

आत्मा विद्रोह करती है। जब हम अपनी आत्मा की आवाज़ को मान कर साहसपूर्वक प्रचलित प्रणाली के प्रतिकूल कुछ करते हैं, तो समाज हमारी ओर न सिर्फ उँगली ही उठाता है, बल्कि हमारे मार्ग में ऐसे-ऐसे रोड़े अटकाता है कि हममें से बहुत कम उनका सफलतापूर्वक सामना कर पाते हैं। आज भारत को ऐसे साहित्य की आवश्यकता है, जो हमें समाज की प्रचलित प्रणाली के प्रति जागरुक बनाये और उसकी अमानुषिकता के विरुद्ध विद्रोह करने का हममे साहस पैदा करे। हमारी राजनैतिक-स्वतन्त्रता भी एक प्रकार से हमारे सामाजिक-विद्रोह का प्रतीक है। उसकी प्राप्ति के लिये हमें अपने समाज का न सिर्फ ढाँचा ही बदल देना है, बल्कि उसमें नई जान भी फूँकनी है। इन सब कहानियों को मैंने इसी उद्देश्य को सामने रख कर तो नहीं लिखा है, पर इनमें से बहुत-सी कहानियों के लिखे जाने के समय मेरा यही दृष्टिकोण रहा है। इसका आभास पाठक मातृत्व की भूख, कुल की मर्यादा, सन्तान की चाह तथा उसे तपेदिक़ हो गई थी, आदि कहानियों में पायेंगे।

× × ×

इस संग्रह के पाठकों तक पहुँचने में स्वर्गीय मुन्शी प्रेमचन्द जी का विशेष हाथ है। मैंने अपने आपको कभी लिक्खाड़ों में पाँचवाँ सवार भी, शायद, नहीं समझा। मैं कुछ लिखता ज़रूर रहा—पर केवल आत्म-प्रेरणा से और सिर्फ़ अपने ही लिये—लेखक बनने की आकांक्षा से नहीं। यही कारण है कि किसी के

प्रोत्साहन का मुझपर कोई असर नहीं हुआ। मेरी कहानियों के पत्रों में छपने और संग्रह के रूप में निकलने में मुंशी जी की प्रेरणा ही प्रधान है। उनका स्नेह और सौजन्य ही मुझे आगे ला सका है, इसे मैं आजीवन नहीं भूल सकता। मुझे यह भी कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार करना चाहिये कि उनसे मैंने बहुत कुछ सीखा है। इन कहानियों में यदि कोई अच्छाई है, तो निर्विवाद-रूप से उसका श्रेय मुंशी जी को ही है।

'हंस' में मेरी केवल दो कहानियाँ ही निकली थीं कि मुंशी जी ने मुझसे संग्रह के रूप में कहानियों को निकलवाने की चर्चा की। मुझे अपनी अयोग्यता और कमजोरी का भलीभाँति ज्ञान था, अतः मैंने कुछ हिचकिचाहट प्रकट की। कुछ समय बाद फिर जिक्र चला और मुंशी जी ने स्वयं भूमिका लिखना स्वीकार कर लिया। १९३३ के आरम्भ में मैंने कुछ कहानियाँ मुंशी जी के पास भेज दीं और अप्रैल मास में उन्होंने भूमिका लिख भी दी। पर पिछले कुछ वर्षों से भगवान् शनि की मुझ पर ऐसी असाधारण कृपा रही कि अब तक वह संग्रह निकल ही न सका। आज जब कि वह निकल रहा है, तो मेरे और हिन्दी के दुर्भाग्य से मुंशी जी इस संसार में नहीं हैं। काश, आज वे इसे प्रकाशित रूप में देख सकते! कम से कम मुझे इस बात का बड़ा पछतावा है कि यह संग्रह एक 'अनाथ' के रूप में आज पाठकों के हाथों में पहुँच रहा है।

स्वर्गीय मुंशी जी द्वारा लिखित भूमिका के सम्बन्ध में भी

यहाँ कुछ कह देना आवश्यक जान पड़ता है। जिन कहानियों को पढ़ कर उन्होंने 'दो शब्द' लिखे थे, उनमें से दो एक तो मेरे सम्पादक-मित्रों की कृपा से खो गईं और दो-एक लम्बी होने के कारण इस संग्रह में जान-बूझकर नहीं दी जा सकीं। ऐसी दशा में भूमिका के भाव और संग्रह के प्रतिपाद्य विषयों में थोड़ी-सी असङ्गति का आभास होना स्वाभाविक है। यदि मुंशीजी जीवित होते तो शायद यह त्रुटि दूर हो सकती, पर चूँकि वे अब इस संसार में नहीं रहे, उनकी भूमिका को उनका अन्तिम आशीर्वाद समझ कर मैं उसे यथातथ्य इस संग्रह में देने की धृष्टता कर रहा हूँ। पाठक इसे आत्मश्लाघा कहलें चाहे आत्म-विज्ञापन, पर मैं इसे देने का लोभ संवरण नहीं कर सका। मुझे इस बात का गर्व और सन्तोष है कि जिन मुंशी जी की कृपा से मेरी पहली कहानी हिन्दी-संसार के सामने आई, उन्हीं के आशीर्वाद के साथ यह पहली पुस्तक भी हिन्दी-भाषा-भाषियों की सेवा मे उपस्थित की जा रही है।

× × ×

अपनी इन कहानियों के सम्बन्ध में मुझे विशेष कुछ नहीं कहना है—शायद मुझे इसका अधिकार भी नहीं है। यह निर्णय करना पाठकों और समालोचकों का काम है। पर इतना मैं जरूर कहना चाहूँगा कि—'निज कवित्त केहि लाग न नीका, सरस होय अथवा अति फीका' वाली उक्ति मुझ पर लागू नहीं हो सकती।

मैंने कभी अपनी रचनाओं के उत्कृष्ट होने की कल्पना नहीं की है। उन्हें लिखने से पूर्व या बाद में मैंने उनकी अच्छाई-बुराई पर कभी विशेष ध्यान नहीं दिया। विचारों और रुचि का भिन्न होना सर्वथा मानवीय है। मैंने अपने विचारों को अपने दृष्टिकोण से अपनी शैली में व्यक्त किया है। मैं यह कैसे समझ लूँ कि मेरा ढङ्ग ही सर्वश्रेष्ठ है ? मुमकिन है मेरे ढङ्ग में भी किन्हीं अन्य व्यक्तियों के ढङ्ग की छाया हो। कुछ लोग इसे बहुत पसन्द करें और कुछ क़तई नहीं। मित्रों द्वारा अपनी एक ही कहानी की दो विपरीत आलोचनाएँ सुन कर मैंने यही निष्कर्ष निकाला है कि रुचि और विचारों की विभिन्नता को किसी सङ्कीर्ण दायरे में सीमित नहीं किया जा सकता। यदि कुछ कहना जरूरी ही हो, तो मैं इतना कह सकता हूँ कि मैंने 'केवल लिखने के लिये' इन्हें नहीं लिखा है। क्यों और क्या लिखा है, यह कहानियाँ स्वयं बता देंगी। प्रायः सभी कहानियों का आधार मेरे या मेरे परिचित व्यक्तियों के जीवन मे घटने वाली सत्य घटनाओं का सम्बन्ध-सूत्र है। कथानक का रूप देने के लिये घटना को तोड़-मरोड़ कर कल्पना का सहारा जरूर लिया गया है। इनमें से अधिकांश के पात्र अभी मेरी आँखो के सामने जीवित हैं, पर मैं यह स्पष्ट कर दूँ कि इसमें आये पात्रों के सभी नाम कल्पित हैं और उनके द्वारा किसी जीवित व्यक्ति के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा गया है। उनका चरित्र-चित्रण मेरा अपना है। केवल 'प्रारब्ध' का कथानक यथातथ्य है, पर इसके लिये मैं अपने उस अभागे मित्र से अनु-

मति ले चुका हूँ, जिसे इस कहानी में विभूति का कल्पित नाम दिया गया है।

× × ×

यह संग्रह पाठकों की बजाय शायद दीमकों या आग ही की भेंट होता, यदि भाई सत्यभक्त जी ने इसके प्रकाशन का भार अपने ऊपर लेने की कृपा और उदारता न की होती। इसके लिये मैं हृदय से उनका कृतज्ञ हूँ। जो कृपालु पाठक इन कहानियों की त्रुटियों की ओर मेरा ध्यान आकृष्ट करने की कृपा कर सकें, उनका भी मैं अतीव आभारी हूँगा। यद्यपि भविष्य में लिखते रहने का मेरा विचार नहीं है, फिर भी अपनी त्रुटियों को जान लेने के लिये मैं सदा उत्सुक रहूँगा। सम्भव है उन त्रुटियों को जान कर मैं अपने जीवन में कुछ लाभ उठा सकूँ। इत्यलम्।

कमान-भवन, जोधपुर
३१ जनवरी, १९३८ ई०

विनीत,
मोहनसिंह सेंगर

समर्पण

माँ,

बचपन में—जब मैं 'माँ' शब्द का अर्थ भी ठीक-ठीक न जान पाया था—न मालूम कितनी बार रो-चिल्ला कर तुम्हें पुकारा होगा। पर जब मैं 'माँ' की ममता और महत्त्व को समझने योग्य हुआ, बरबस 'किसी' ने तुम्हें मुझसे छीन लिया। तब से मैं तुम्हें पुकार भी न सका—अपनी आवाज़ को तुम तक पहुँचा भी न सका। जी में आता है कि अपनी सारी शक्ति समेट कर एक बार जोर से पुकारूँ—'माँ'—पर वह शक्ति और साहस अब कहाँ ?

एक-भूली-सी याद है तुम्हारी और उसमे विषाद बन कर घुलती हुई तुम्हारे स्नेहाभाव की कसक। उसीके सहारे शुष्क और सूने जीवन के यह कई लम्बे वर्ष काट आया हूँ और कुछ आगे भी काटूँगा। तुम्हारे आँचल का छोर छोड़ने के बाद मैं लेखनी की शरण आया। उसने मुझे आश्रय दिया और जो कुछ लिखा गया, तुम्हारी भेंट है। भले-बुरे का विवेक अभी मुझमें नहीं है, पर काँपते हुए पापी हाथों से अपने विफल जीवन का यह अर्घ्य तुम्हारे तीर्थ-चरणों में चढ़ाते हुए मुझे भय या सङ्कोच नहीं हो रहा है। अच्छा हो या बुरा, यह तुम्हारा ही है और तुम्हें इसे अपनाना ही पड़ेगा। अच्छे के लिये आशीर्वाद और बुरे के लिये तुमसे क्षमा किस मुँह से माँगूँ ?

तुम्हारा भाग्यशाली 'अभागा',

मोहन

सूची

चिता की चिनगारियाँ

मुर्दा उर्फ़ चिता की चिनगारियाँ

(१)

'माँ, माँ, देख फिर वही जा रहा है।'

पर शायद किसी ने इसे सुना नहीं। स्वयं शान्ति भी इसको न सुन सकी होगी। वृक्षों के अन्तराल, बस्ती के सुषुप्त प्राङ्गण और काँपते हुए शीत वायु के अन्तस्तल को चीरती हुई यह चीख़ विभावरी की निस्तब्धता में विलीन हो गई।

कोई दो-तीन मिनट बीते होंगे। शान्ति ने फिर जोर से चिल्ला कर कहा—'माँ, माँ, देख वह मुझे भी लिये जा रहे हैं।... ...हाय, माँ मुझे बचा। अरे, मुझे कोई बचाओ। अब मैं क्या करूँ?'

शान्ति की माँ उसी कमरे में तीन-चार गज की दूरी पर लेटी हुई थी। इस बार वह सोई न रह सकी। शान्ति का उच्च-स्वर निद्रा के आवरण को पार कर उसके कानो तक जा पहुँचा।

वह हड़बड़ा कर उठी और द्वार के पास जाकर बिजली जलाई। कमरे मे प्रकाश ही प्रकाश फैल गया। शान्ति की माँ ने देखा, शान्ति का लिहाफ आधे से ज्यादा पलँग से नीचे गिर गया है। उसका शरीर खुला है। कपड़े अस्त-व्यस्त हो रहे हैं। साँस जोर-ज़ोर से चल रहा है—बड़ी तेज़ी से वह हाँफ रही है। मुँह उसका एकदम लाल हो रहा है। ललाट पर और गले के नीचे पसीने की मोती-सी बूँदें साफ दिखाई दे रही हैं।

कुछ क्षण किसी अनिष्ट की अप्रत्यक्ष आशङ्का से काँप कर, कुछ सोचने का विफल प्रयत्न कर, शान्ति की माँ ने पास की खूँटी पर टँगे हुए तौलिये को उतारा और शान्ति का पसीना पौछते हुए घबराई-सी आवाज़ में पूछा—'शान्ति, क्या हुआ बेटी, छाती पर हाथ आ गया क्या ?'

शान्ति ने एकदम आँखें खोल दीं—उनमें नाच रहा था भय, बेचैनी और आत्म-विस्मृति का हिलोरे लेता हुआ सागर।

एक अँगड़ाई लेते हुए शान्ति ने कहा—'सुबह हो गया क्या माँ ? बिजली अभी तक जल रही है ?'

'नहीं, सुबह नहीं हुआ, मेरी रानी बेटी। अभी रात काफी है।' शान्ति की माँ ने अपने आपको ढाँढ़स बँधाते हुए—अपनी घबराहट के स्वर मे सन्तोष और प्रसन्नता जताते हुए—कहा।

'तो तुम अभी सोई' नहीं, माँ ?'

'मैं सो गई थी, बेटी ।'

'फिर इस समय यहाँ कैसे ?'

'छाती पर हाथ आ जाने से तू चौंक उठी थी, बेटी। तेरी चिल्लाहट सुनकर मैं जग गई। अब तेरी तबियत कैसी है बेटी ?'

'मैं चौंक उठी थी सच ?' शान्ति ने गर्दन उठा कर माँ की ओर एक खोजपूर्ण दृष्टि डालते हुए कहा—'भला कब, कैसे, माँ ? मुझे तो नहीं याद कि मैं चौंक उठी थी।'

'अभी-अभी, थोड़ी ही देर हुई। तुझे बिल्कुल याद नहीं क्या बेटी ?'

'हाँ, कुछ-कुछ याद आ रहा है.........।' कहते हुए शान्ति ने अपना सिर तकिये पर पटक दिया। उसकी आँखें चमकने लगीं। उसके शरीर के रोम सब एकदम खड़े हो गये। साँस फिर तेज़ी से चलने लगा। छाती ज़ोर-ज़ोर से धड़कने लगी। शान्ति ने सारे कमरे में नज़र दौड़ाई और फिर एकदम उठकर माँ के गले से लिपट गई और हाँफते हुए बोली—'माँ, देखो, मैं तुमसे कितनी बार कह चुकी हूँ कि मुझे तुम अपने साथ ही सुलाया करो। अकेली सोने मे मुझे बुरे सपने......माँ.........मुझे डर......लग......रहा......है !'—कहकर शान्ति और भी ज़ोर से अपनी माँ की छाती से चिपट गई और तेज़ी से हाँफने लगी।

उसकी माँ का हृदय दहल उठा। आँखें भर आईं। कुछ सोचने का उसने प्रयत्न किया। उसने देखा—काले-भूत और

गहन अन्धकारमय भविष्य के बीच यह अभागा वर्त्तमान का क्षण, साँय-साँय करती हुई नागिन-सी अभागिनी हवा, काली-काली डरावनी रात और बिजली के प्रकाश से आलोकित कमरे में भरा हुआ दो आत्माओं का सघन अन्धकार ! सब अपनी-अपनी गति से चल रहे थे। पर उसकी प्राणों से प्यारी बेटी शान्ति ?......ओह ! जीवन और मरण के बीच वह बेचारी....!

सोलह वर्ष की शान्ति को भग्न-हृदया माता ने अपनी गोद में उठा लिया और अपने पलँग की ओर बढ़ते हुए कहा—'चल बेटी, मैं तुझे अपने साथ ही सुलाती हूँ। अब डर न लगेगा।'

शान्ति का खाली पलँग मानों उत्सुकतापूर्वक पूछ रहा था—'अब क्या शान्ति के डरने के दिन हैं ? क्या अब भी वह माँ के साथ सोने लायक़ है ?'

(२)

थाली में रक्खे हुए कटोरे में खीर परोसते हुए शान्ति की माँ ने अपने पति से कहा—'देखो, मैं तुमसे कितनी बार कह चुकी हूँ, लड़की की हालत बिगड़ती जा रही है और तुम कुछ ध्यान ही नहीं देते।'

'तो तुम्हीं बताओ न, मैं और क्या करूँ ?'—शान्ति के पिता ने झुँझलाते हुए कहा—'वैद्य, हकीम, डाक्टर, ओझा, औलिये, पीर-पैग़म्बर, देवी-देवता, जादू-टोना, मैसमेरिज़्म और न-जाने किस-किस की शरण ले चुका हूँ। अब तुम जो बताओ, वह

करूँ। दौड़-धूप करने में या पैसा खर्चने में अगर मैंने कोई सुस्ती या कंजूसी की हो, तो तुम मुझे दोष दे सकती हो। प्रयत्न करना मनुष्य के हाथ है, पर सफलता मिलना या न मिलना तो विधाता के ही हाथ में है।'

'तो फिर लड़की को हाथ से गई समझो।'

'यदि ईश्वर को यही अभीष्ट है, तो तुम, मैं और हकीम-औलिये सब मिलकर भी उसे नहीं बचा सकते।'

शान्ति की माँ अपनी साड़ी में मुँह छिपाकर सिसक-सिसक कर रोने लगी। शान्ति के पिता ने जल्दी से भोजन समाप्त कर थाली में हाथ धोये और उठ खड़े हुए।

(३)

अपने कमरे में आरामकुरसी पर लेटी हुई शान्ति एक पुस्तक पढ़ रही थी। सामने मेज़ पर रक्खी हुई टाइमपीस टिक्-टिक् टिक्-टिक् कर रही थी। जब-तब वह सामने से पुस्तक हटाकर घड़ी पर भी एक नज़र डाल लेती थी। धीरे-धीरे उसके स्कूल जाने का समय हो रहा था। अकस्मात् उसके कानों में आवाज़ पड़ी—'राम राम सत्य है!' वह एकदम चौंक पड़ी। उसका ध्यान पुस्तक के पृष्ठों से हटकर दूर सड़क पर आती हुई इस अभागी जन-मण्डली की ओर खिंचा चला गया। उसका चेहरा एकदम निस्तेज हो गया। साँस के आने-जाने में असाधारण तेज़ी आने लगी। ज्यों-ज्यों शब्द पास आता गया, उसके हृदय की

धड़कन बढ़ने लगी और आँखों से चिनगारियाँ-सी निकलने लगीं।

शब्द और पास आया। शान्ति के कल्पना के घोड़े दौड़े। ख़बर लाये कि नंगे सिर, नंगे पाँव, रोते-बिलखते अभागे लोगों की एक मण्डली आ रही है। बीच मे चार आदमी कंधे पर सीढ़ी रक्खे हैं। उस पर एक मुर्दा बँधा है। वह पुरुष है। नहीं, नहीं, वह स्त्री है और वह भी सुहागिन; क्योकि शव के ऊपर गोटा लगी हुई लाल रङ्ग की साड़ी जो रक्खी है। हाँ, हाँ, वह अवश्य कोई स्त्री है। पर क्या शान्ति-जैसी ? छिः, शान्ति-जैसी भला कैसे हो सकती है ? शान्ति कुमारी है, वह विवाहिता, सुहागिन और लड़के-लड़कियो की माँ जान पड़ती है। शान्ति पढ़ी-लिखी है, बड़ी भावुक है—वह ऐसी थोड़े ही होगी ? पर वह है कैसी—गोरी या काली ? शान्ति का रंग तो गुलाब को भी शरमाने वाला है। पर हाँ, शान्ति से भारी वह अवश्य है। देखो न, अर्थी उठाने वाले आदमियो के पाँव कैसे भारी पड़ रहे हैं, कंधे भी दबे जा रहे हैं।

थोड़ी देर बाद आवाज बिलकुल नज़दीक आ गई। शान्ति को ऐसा लगा मानो उसके घर के सामने खड़े होकर हज़ारों आदमी उच्च-स्वर से कह रहे हैं—'राम राम सत्य है !' अब शान्ति से बैठा न रहा जा सका। पर उसके पाँव उठने से इनकार कर रहे थे। उसे ऐसा जान पड़ रहा था, मानो शत-सहस्र कण्ठों से निकला हुआ 'राम राम सत्य है' का उच्च घोष उसके कानों के

पर्दे फाड़ कर उसके हृदय में पहुँच कर हज़ारों साँप-बिच्छुओं के एक साथ दंशन करने की भाँति ज़ोर से काट रहा है। मानो एक तीव्रगामी भारी जल-प्रवाह उसके तिनके से हृदय को अगम-अथाह जल-राशि मे बहाये लिये जा रहा है। जैसे कोई डाक्टर एक साथ उसके सैकड़ों इंजेक्शन लगा रहा है।

आवाज़ अपनी चरम-सीमा पर पहुँच कर कुछ ढलने लगी। शान्ति अब बैठी न रह सकी। उसे ऐसा लगा मानो उसका कोई प्रियजन सदा के लिए उससे बिछुड़ रहा है। उसने अपने हाथ की पुस्तक फर्श पर फेंक दी और तेज़ी से खिड़की की ओर बढ़ी। चिक हटा कर उसने देखा—कुछ आदमी एक शव को लिये 'राम राम सत्य है' कहते हुए तेज़ी से श्मशान की ओर बढ़े जा रहे हैं। शान्ति चित्र-खचित-सी खड़ी यह सब देखती रही। उसकी दृष्टि के सामने एक मुर्दा सड़क पर से गुज़र रहा था। पर अन्तर्दृष्टि से वह देख रही थी कि स्वयं उसी का शव सड़क पर पड़ा है और 'राम राम सत्य है' कहने वाले लोग उसे लाँघ कर, कुचल कर, ठुकरा कर, आगे बढ़े जा रहे हैं। उसे ऐसा जान पड़ा मानो हज़ारो व्यक्ति उसके मुँह पर पदाघात करके निकल गये!

शान्ति देखती रही। झुककर देखती रही। फिर खिड़की के बाहर आधा शरीर निकाल कर जहाँ तक देख सकती थी, देखती रही। आखिर जब शव आँखो से ओझल हो गया, 'राम राम

सत्य है' का शब्द अस्पष्ट हो चला, तो वह मुड़ी, एक दृष्टि अपने कमरे के चारों ओर डाली और चिल्लाती हुई बाहर निकली— 'माँ, माँ, देख वही फिर जा रहा है !'

शान्ति की माँ आटे के सने हाथ धो रही थी। बोली—'क्या है बेटी ?'

'क्या, क्या, अपनी आँख से आकर देख। फिर कोई मुर्दा जा रहा है !'

शान्ति के पास आते हुए उसकी माँ ने कहा—'जाता होगा, बेटी। यह राजमार्ग है, इधर होकर दिनभर में न-जाने कितनी चीजें आती-जाती हैं। तू भला किस-किस से खुश-नाखुश होती रहेगी ?'

'तुम तो फिर वही बहकाने की बातें करने लगीं, माँ। क्या इतने बड़े शहर में और कहीं मकान खाली नहीं मिलते ? जब तुम्हें मालूम है कि यह रास्ता श्मशान को जाता है, इस पर से होकर रोज मुर्दे गुजरते हैं—जिन्हें कि मैं देख नहीं सकती—तो क्या इसे बदलना आवश्यक नहीं ?'

माँ ने शान्ति को छाती से लगा लिया और उसके मुँह पर हाथ फेरते हुए कहा—'नहीं, मेरी रानी बेटी, तू नाराज़ न हो, अगले महीने इस मनहूस मकान को ज़रूर बदल देंगे। मैं तो ख़ुद इस अभागे मकान में नहीं रहना चाहती। यह तो तेरे पिता की ही लापरवाही का फल है कि ८-८ महीनों का किराया चढ़ा

रक्खा है—जिसे न एक साथ दिया जा सकता है और न मकान ही बदला जा सकता है।'

'तो मैं मर जाऊँ, तब बदलना, अच्छा !'

'दुर पगली, ऐसी बात मुँह से न निकाल। चल, खाना खा ले। तेरे स्कूल जाने का समय हो गया।'

'हाँ, अब खाने के बहाने भुलावा दे दो। तुम हर बार ऐसे ही किया करती हो। अच्छा, चलो।'

(४)

शान्ति अपनी क्लास मे पहुँची और किताबें डैस्क पर रख कर अपनी जगह पर बैठी ही थी कि उसकी एक सहेली ने आकर कहा—'शान्ता, तुझे मालूम है, आज विमला क्यों नहीं आई ?'

'नहीं तो'—शान्ति ने अन्यमनस्कतापूर्वक कहा।

'आज उसकी माँ मर गई है !'

'उसकी माँ मर गई है ?' शान्ति ने चौंक कर, आँखें फाड़-कर, अपनी सहेली की आँखों मे धीरे-धीरे उमड़ते हुए आँसुओं को ग़ौर से देखते हुए कहा।

'हाँ, तभी तो आज मैं चौथे घण्टे के बाद छुट्टी लेकर जा रही हूँ।'

'क्या उसे जला आये ?'

'हाँ, हाँ, आज प्रातःकाल ९-९॥ बजे। तुम्हारे घर के आगे होकर ही तो उन्हें श्मशान ले जाया गया है।'

शान्ति इस बार कुछ न बोल सकी। चल-चित्र की भाँति मानो एकदम पट-परिवर्तन-सा हुआ। शान्ति को ज्ञात हुआ, वह अपने कमरे में आरामकुरसी पर बैठी कोई पुस्तक पढ़ रही है। उसके कानों में शत-सहस्र कण्ठों का यह उच्च स्वर प्रवेश कर रहा है—'राम राम सत्य है!' कल्पना के घोड़े फिर चले। वे ख़बर लाये—लोग विमला की माँ को लिये जा रहे हैं—श्मशान की ओर—जलाने के लिए! ओफ...

अध्यापिका ने पूछा—'शान्ति, अच्छा तुम बतलाओ मुग़ल-साम्राज्य के पतन के क्या-क्या कारण थे?'

शान्ति का स्वप्न टूटा। खड़ी होकर उसने कहा—'मुझे क्षमा कीजिएगा, आज मैं कुछ न बता सकूँगी। मेरा सिर बड़े ज़ोर से घूम रहा है। मेरी तबियत ठीक नहीं है।'

'तो फिर तुम स्कूल क्यों आईं? तुम्हे छुट्टी ले लेनी चाहिए थी।'

'सुबह तबियत ज्यादा ख़राब नहीं थी, इस लिये चली आई। अब कृपा कर मुझे छुट्टी दे दीजिए।'

'अच्छा, जाओ।'

शान्ति ने पुस्तकें उठाईं और बिना किसी से कुछ कहे-सुने कमरे से बाहर निकल गई। घर पहुँचते-पहुँचते उसे बड़ा तेज़ बुख़ार हो आया और वह अपने कमरे मे जाकर सो रही।

(५)

चार मास बाद।

अपने पिता की गोद में सिर रक्खे शान्ति रो रही थी। वे उसे ढाँढ़स बँधा रहे थे। कह रहे थे—'बेटी शान्ति, रो मत। तुझे तो मुझे सान्त्वना देनी चाहिए। पर तू तो स्वयं इतनी रो रही है कि मेरा भी धीरज छूटा जा रहा है।'

'भला, माँ के बिना मैं कैसे रहूँगी, पिताजी? इस घर में मेरा जी अब कैसे लगेगा? आप पुरुष हैं, सारा दिन घर के बाहर बिता देंगे, पर मेरा समय कैसे कटेगा?'

'बेटी, इसका जवाब मैं क्या दूँ? माँ-बाप सदा किसके जीवित रहे हैं?......देख, लोग जमा हो गये हैं, मैं नीचे चलता हूँ। तू...रो...ना...म.. त!' शान्ति के सिर पर हाथ फेरते हुए उसके पिता नीचे चले गये। शान्ति बैठी-बैठी सिसकती रही। उसकी अजस्र अश्रुधारा और भी वेगवती हो गई। वह फफक-फफक कर रोने लगी।

सहन में आकर उसने देखा, उसकी माँ का शव सीढ़ी पर बाँधा जा चुका है। देखते ही देखते वह बाहर ले जाया गया। उपस्थित स्त्री-पुरुषों ने एक बार फिर बड़े ज़ोर से रोना आरम्भ किया और......और चार आदमी शव को उठाकर चल दिये! पीछे चलनेवाले कह रहे थे—'राम राम सत्य है!'

शान्ति भी अस्त-व्यस्त वस्त्रों में विवर्ण मुख-मुद्रा बनाये, खुले और उलझे हुए बालों से सब के पीछे रोती—बिलखती दौड़ी

जा रही थी। रात भर रोने से उसकी आँखें लाल हो रही थीं और कुछ-कुछ सूज भी गई थीं। मार्ग में दो-एक व्यक्तियों ने उसे देखा और सहानुभूति एवं समवेदना दिखाते हुए बोले—'बेचारी इस लड़की की माँ मर गई जान पड़ती है। देखो, कैसी बेहाल हो रही है।'

शान्ति के हृदय की ज्वाला को बढ़ाने में ये शब्द ईंधन का और उसकी उमड़ती हुई आँसुओं की बाढ़ को और भी उद्विग्न रूप देने में तूफान का काम कर रहे थे।

शव को उतार कर चिता पर रख दिया गया। सब ओर से उस पर मोटी-मोटी लकड़ियाँ चुन दी गईं। जब आग लगाई जा रही थी, तो शान्ति ने मुँह फेर लिया और अपनी दोनों आँखों को हथेलियों से मज़बूती से मूँद लिया। ओह! वह दृश्य......!

चड़चड़ाहट की आवाज़ सुनकर शान्ति ने डरते-डरते चिता की ओर देखा। उसकी माँ की ममता, हँसी, सहज स्वभाव, और भविष्य की आकांक्षाएँ लपलपाती हुई लाल-लाल लपटों में धुआँ बनकर अनन्त आकाश की ओर उड़ रही थीं। शान्ति के जी में आया—वह भी उसी में जल मरे। पर छिः, संसार इसे क्या समझेगा? उसके जी में आया कि एक बार अपनी सारी शक्ति बटोर कर ज़ोर से रोकर कह दे—'माँ'—पर इस समय साहस उसके पास कहाँ था? चिता धायँ-धायँ कर जल रही थी और मूक व अचल शान्ति उसे निर्निमेष दृष्टि से देख रही थी।

(६)

शान्ति ने देखा—उसकी माँ उसी स्वाभाविक मुस्कराहट के साथ उसके पलँग की ओर बढ़ कर कह रही है—'बेटी, मुझे इतनी जल्दी भूल गई क्या ? मेरी रानी बेटी—'

भय, आह्लाद और आश्चर्य से शान्ति काँप उठी ! यह क्या ? क्या सचमुच यह उसकी माँ ही है ! तो इतने दिन तक यह कहाँ छिपी थी ? वह तो मर गई थी न ? नहीं, यह सामने प्रत्यक्ष जो खड़ी है ! हाँ, हाँ, शान्ति की माँ ही तो है यह !

'अच्छा, मुझसे बोलेगी भी नहीं ? रूठ गई क्या ?'

'माँ, माँ !' आह्लाद से शान्ति चिल्ला उठी ।

'हाँ बेटी, तू इतने दिन कहाँ रही ? पगली कहीं की—'

'माँ ! मैं......हाँ, हाँ, मैं तुम्हें भूली नहीं हूँ । मुझे...डर...'

'दुर पगली, अभी तक तुझे डर ही लगता है । जवान होने आई, अब भी बच्चियों की तरह डरती ही रहेगी क्या ?'

शान्ति का साँस ज़ोर-ज़ोर से चल रहा था ।

'डर मत, मेरी रानी बेटी । अगले महीने ज़रूर यह मकान बदल देंगे । मैं तो ख़ुद इस अभागे मकान मे नहीं रहना चाहती । यह तो तेरे पिता की लापरवाही का फल है कि ८-८ महीनों का किराया चढ़ा रक्खा है—जिसे न एक साथ दिया जा सकता है और न मकान ही बदला जा सकता है ।'

'तो मैं मर जाऊँ, तब बदलना, अच्छा !'

'दुर पगली, ऐसी बात मुँह से न निकाल। चल, खाना खा ले। तेरे स्कूल जान का समय हो गया।'

'हाँ, अब खाने के बहाने भुलावा दे दो। तुम हर बार ऐसे ही किया करती हो। अच्छा, चलो।'

शान्ति एकदम उठ खड़ी हुई। आँखों को मल कर उसने देखा। चारों ओर अन्धकार फैला है। वायु की साँय-साँय निशा की निस्तब्धता को झकझोर रही है। वृक्षों के पत्तों का मरमर शब्द रेंगता हुआ-सा जाकर क्षितिज में विलीन हो जाता है। तो शान्ति यह क्या स्वप्न देख रही थी? क्या सचमुच उसकी माँ उससे बातें नहीं कर रही थी? यह सब क्या था?

शान्ति अपने कमरे से बाहर आई। देखा, अँधेरा है। काश में कुछ तारे टिमटिमा रहे हैं। बस। वह जीने से उतर कर नीचे आई। रसोई-घर के किवाड़ खोले—बाहर चबूतरे पर आई। कहीं कुछ न था। चबूतरे से उतर कर वह सड़क पर आई। इधर-उधर देखा। कहीं कुछ न था। कुछ क़दम आगे चली। पीछे मुड़कर देखा—कहीं कुछ न था। वह फिर आगे बढ़ी। पास की झोंपड़ी में सोते हुए किसी व्यक्ति ने खाँसा—शान्ति उसी ओर बढ़ी। झोंपड़ी के पास जाकर देखा—कहीं कुछ न था। वह और आगे बढ़ी—कुछ और आगे बढ़ी—आगे बढ़ती ही गई—श्मशान आ गया—फिर आगे बढ़ी। हाँ, यही तो चिता है, जिस पर उसकी माँ को जलाया गया था! शान्ति को जान पड़ा—मानो उसकी माँ वहीं सो रही है। लकड़ियों

का बोझ लादे नहीं—राख की एक हलकी झीनी चादर ओढ़े—शान्त, सस्मित और प्रसन्न-वदन! हाँ, हाँ, उसी की माँ तो है वह!!

शान्ति नीचे झुकी, उसकी उँगलियाँ शीतल राख में कुछ खोई हुई चीज-सी ढूँढ़ने लगीं। पर कहीं कुछ न था। किन्तु उसे दिख रहा था कि उसकी माँ वहीं सो रही है। पर...पर... कहाँ...कैसे...कब से ?

झुँझला कर उसने राख की एक मुट्ठी भर ली और अपने मुँह के पास ले जाकर निर्निमेष दृष्टि से देखने लगी। अनायास उसके मुँह से निकल पड़ा—'इसमें सोई है मेरी माँ, विश्व की माँ, ईसा और बुद्ध की माँ, राजा और सम्राटों की माँ, धर्मात्मा और पापी की माँ, भले और बुरे की माँ, स्त्री और पुरुष की माँ! कितनी प्यारी, पवित्र और श्रद्धास्पद है यह राख!'

दूसरे ही क्षण शान्ति ने मुट्ठी की वह राख लेकर अपने मुँह पर पोत ली और खिलखिलाकर हँसती हुई बोली—'यह है मेरी माँ। इसमें छिपी है मेरी माँ। मेरी प्यारी माँ। विश्व की माँ, ईसा और बुद्ध........'

× × ×

दूसरे दिन प्रातःकाल कुछ लोग खड़े कह रहे थे—'श्मशान में यह बिना जला मुर्दा कैसा पड़ा है ?'

'न जाने कौन है यह ? कोई लड़की जान पड़ती है!' एक ने कहा और सब आगे बढ़ गये।

पत्रकार

उन दिनों असहयोग-आन्दोलन अपने यौवन पर था। मैं एक कॉलेज में तीसरे वर्ष में पढ़ता था। समाचार-पत्र, किस्से-कहानी और उपन्यास पढ़ने का चस्का बहुत पहले से लग चुका था। खेल के समय और गर्मियों की छुट्टियों का अधिकांश भाग इन्हीं के अर्पित होता था। भारतीय भाषाओं के ख्यात-नामा लेखकों के अतिरिक्त दर्जनों विदेशी लेखकों की रचनाएँ भी चाटे बैठा था।

पढ़ने-लिखने के इस व्यसन ने मेरी लेखक बनने की सुप्त भावना को जगा दिया और मैं उस दिन का स्वप्न देखने लगा जब कि मेरे लेख घर-घर में पढ़े जावें और मेरी रचनाओं से चारों ओर तहलका-सा मच जाय। मुझे भी लिखने की अन्तः प्रेरणा हुई और मैंने तुकबन्दी के रूप में अपने सम्भावित महान् जीवन का सूत्रपात किया। जब कोई त्यौहार होता, मै उस पर कविता लिखता और अपने सहपाठियों को सुनाकर वाहवाही

लूटता। जब किसी अध्यापक को विदा करते समय मानपत्र या पार्टी दी जाती, मैं कविता सुनाता।

कुछ ही समय में अध्यापकों और सहपाठियों पर मेरी योग्यता का सिक्का बैठ गया। सभी मेरी इज़्ज़त करने लगे। अब क्या था, मेरी कल्पना के पङ्ख निकल आये। सहपाठी तो क्या अध्यापक भी मुझे हेच जँचने लगे। आकाश और पृथ्वी भी मुझे अपनी महत्वाकांक्षाओं के आगे नगण्य जान पड़ने लगे। यशोलिप्सा ने मेरी आकांक्षाओं को और भी ठोस और वृहदाकार बना दिया। अब मैं सिर्फ़ पद्य की चारदिवारी में ही क़ैद न रह सका—गद्य के क्षेत्र में भी कूद पड़ा। पहले गद्यगीत लिखे। फिर लेख, फिर कहानियाँ और फिर उपन्यास!

आन्दोलन का ज़ोर धीरे-धीरे बढ़ रहा था। देश के गण्य-मान्य नेताओं का आदेश मान कर सैकड़ों छात्रों ने पढ़ाई छोड़ कर देश-सेवा करने का व्रत धारण कर लिया था। किन्तु मैं पानी में कमल की तरह अब तक सूखा ही था। मैं अब तक कोई निर्णय नहीं कर पाया था। सोचता था कि अगर लेखक या पत्रकार ही बनना है, तो पढ़ाई छोड़ना घातक होगा। पर दूसरे ही क्षण ख़याल आता—अगर देश ग़ुलाम रहा तो मैं लेखक बन कर ही कौन आकाश के तारे तोड़ लूँगा। देश के प्रति भी तो मेरा कुछ कर्त्तव्य है? लेखक बनने की धुन में उस पवित्र कर्त्तव्य को भुला देना क्या उचित होगा?

मेरी दुविधा को किसी ने समझा हो या नहीं, पर मैं लोगों की घृणा, अवज्ञा और तानेज़नी का शिकार बन गया। सहपाठी और पड़ौसी मुझे कायर और अकर्मण्य समझने लगे। आखिर मेरी सहनशीलता और धीरज के बाँध टूट गये और बिना कुछ सोचे-समझे मैं भी आन्दोलन में शामिल हो गया।

[२]

सागर में जिस प्रकार प्रतिदिन असंख्य लहरें आतीं और चली जाती हैं, उसी प्रकार असहयोग की लहर भी अपना वैभव दिखाकर आगे बढ़ गई। मैं जब जेल से लौट कर आया तो पता लगा कि मेरे आन्दोलन में भाग लेने के कारण पिता जी को सरकारी नौकरी से बर्खास्त कर दिया गया है। यह सुन कर मुझे उन्हें मुँह दिखाने का भी साहस नहीं हुआ। मैंने सोचा अब मुझे अपने पाँवों पर खड़ा होना चाहिये। माता-पिता मुझे कब तक खिलाते रहेंगे? जब एक दिन अपने पाँवों पर खड़ा होना ही है, तो अभी से ही क्यों न उसके लिये प्रयत्न किया जाय?

पहला प्रश्न मेरे सामने रोटी का था और दूसरा अध्ययन का। दोनों का एक साथ हल हो सकना सम्भव नहीं था। अतः मैंने सोचा कि पहले प्रश्न को ही फ़िलहाल हल करना चाहिये। रही पत्रकार बनने की बात, सो उसके लिये यह अनिवार्य नहीं कि कॉलेज की पढ़ाई की ही जाय। उसके लिये अच्छी-अच्छी पुस्तकें और पत्र-पत्रिकाएँ पढ़ना ही बहुत सहायक सिद्ध होगा।

मुझे मालूम हुआ कि साप्ताहिक 'समता' में एक सहकारी-सम्पादक की आवश्यकता है। मैंने एक प्रार्थना-पत्र लिखा और नमूने के लिये अपने कुछ लेख और कविताएँ लेकर उसके प्रधान-सम्पादक—जो कि उसके मालिक भी थे—के पास पहुँचा। लगभग एक घण्टे तक 'समता' कार्यालय के बरामदे में टहलने के बाद सम्पादक महोदय से साक्षात्कार हुआ। बड़े प्रेम और आत्मीयता से मिले और बनावटी हँसी हँसते हुए बोले—'क्षमा कीजियेगा, मैंने कार्याधिकता के कारण अब तक आपको बिठाये रक्खा।'

'जी नहीं, कोई बात नहीं। मैं आपके चन्द मिनट लेना चाहता हूँ!'

'शौक से! फर्माइये?'

मैंने सुना है आपको एक सहकारी की आवश्यकता है!'

'जी हाँ, है तो! फिर...'

'यह मेरा आवेदन-पत्र है और यह रचनाओं के नमूने'—मैंने दोनों चीजें उनके आगे रखते हुए दबी हुई जुबान से कहा।

सम्पादक महोदय ने उलट-पलट कर मेरी चीजों को देखना शुरू किया। मेरी आँखें उनकी मुखाकृति पर गड़ी थीं और मैं उनके मनोभावों को पढ़ने का यत्न कर रहा था। कभी उनकी भौंहें तन जातीं। कभी ललाट सिकुड़ जाता और कभी ओंठ फड़कने लगते। सुनहरे फ्रेम के चश्में में से चमकीली आँखों की दौड़ देखते ही बनती थी। आखिर उन्होंने मौन भङ्ग करते

हुए कहा—'आप में विचार-शक्ति और प्रतिभा है। सिर्फ Right lines पर थोड़े से guidence की आवश्यकता है। तो आप निर्वाह के लिये क्या स्वीकार कर सकेंगे ?'

'यह भला मैं क्या बताऊँ। आप जो मुनासिब समझें या जो अन्य सहकारियों को देते हों, वही मै भी स्वीकार कर लूँगा।'

'इस समय तो और कोई सहकारी नहीं है। पहले एक साहब थे। बी० ए० और विशारद थे। सेवा-भाव से २५) मासिक पर ही काम करते।'

२५) का नाम सुनकर मैं धूप खाये आम की तरह पिलपिला गया। कुछ साहस कर मैंने कहा—'२५) रुपये में तो कलकत्ता जैसे शहर मे गुजर होना मुश्किल है। आप जानते हैं कि आज-कल......।'

'साहब यही तो हमारा भी रोना है'—बीच में ही बात काट कर सम्पादक महोदय बोले—'गुलामी और ग़रीबी से देश भर आर्थिक दुरवस्था का शिकार हो रहा है। मैं तो आपके मुँह पर कहूँगा कि आपकी योग्यता १००) मासिक से किसी तरह भी कम नहीं है। पर किया क्या जाय, पत्र ५ हजार रुपये वार्षिक के घाटे पर चल रहा है। फिर भला मैं आपको आपकी योग्यता के अनुरूप क्या दूँ। और कहाँ से दूँ ? हमारा पत्र समाजवादी विचारों का है, और आप जानते हैं, भारत में समाजवाद की कैसी मिट्टी पलीद हो रही है ?'

सेवा-भाव और समाजवाद की यह दूकानदारी देख कर मैं तिलमिला उठा। पर मेरे सामने तो रोटी का सवाल था। विचारों से तो पेट भरने से रहा। मैंने कहा—'पर २५) रुपये बहुत कम हैं। अगर आप......।"

'देखिये, मैं आपको नौकर की तरह नहीं रख रहा हूँ। यह तो देश की सेवा है। आप और मैं मिल कर काम करते हैं, अगर चार पैसे की भी बचत हुई, तो वह आपको मिलेगी। आपका उस पर पहले अधिकार होगा। मेरे लिये तो 'समता' के पैसों में से फूटी कौड़ी भी लेना हराम है। आपको २५) रुपये नक़द तो मिलेंगे, मुझे तो यह सब खर्च निकाल कर रोटी-दाल पर ही गुज़र करना पड़ता है। मैं तो जेब खर्च भी नहीं लेता।'

आखिर मुझे स्वीकार करना पड़ा और मै दूसरे ही दिन से 'समता' में काम करने लगा।

(३)

'समता' का सम्पादन करते मुझे पूरे दो वर्ष हो गये। यद्यपि सम्पादक के स्थान पर नाम सञ्चालक महोदय का ही जाता था, पर काम सब मुझे ही करना पड़ता था—यहाँ तक कि फ़ाइनल-प्रूफ भी मैं ही देखता था। इस अर्से में देश मे समाजवाद का प्रचार काफ़ी बढ़ा और उसके साथ ही साथ पत्र के पाठकों की संख्या में भी काफ़ी वृद्धि हुई। पत्र का स्टैन्डर्ड भी ऊँचा हो गया और उसको लोग बड़ी रुचि से पढ़ने लगे। सब कुछ बढ़ा ही बढ़ा, काम भी बढ़ा पर मेरा वेतन नहीं बढ़ा! वह

अड़ियल टट्टू की तरह २५) रुपये पर ही अड़ा रहा। वेतन की बात मुझे इसलिये खटकने लगी कि इधर मैंने एक ग़लती और की, जिसने मेरी अर्थ-चिन्ता को और भी बढ़ा दिया। मैंने विवाह कर लिया था। यह विवेक तो अब हुआ है कि हिन्दी के पत्रकार को अखण्ड ब्रह्मचारी या चिर-कुमार ही रहना चाहिये।

मैंने कई बार सञ्चालक जी से वेतन-वृद्धि के लिये कहा, पर वे टाल-मटूल ही करते रहे। कभी कहते इस बार टाइप बदलने में रुपया ख़र्च हो गया। कभी कहते मशीन दुरुस्त करवाने में विशेष व्यय हो गया। गोया हर महीने कोई न कोई नया ख़र्च निकल ही आता। कोरी बातों से मेरा पेट भर नहीं सकता था। जब मैंने देखा कि इन तिलों में अब तेल नहीं है, तो मैंने अपना त्याग-पत्र ले जाकर सञ्चालक जी के सामने रख दिया। वे कुछ अनमने से होकर बोले—'आपने इस विषय में ख़ूब सोच-समझ लिया है न ?'

'जी हाँ, ख़ूब सोच-विचार लिया है। मुझे दुःख है कि आपके समाजवादी विचार मेरी आर्थिक कठिनाई को दूर नहीं कर सके।'

'जैसा भी कुछ है, आपके सामने है। जैसा रूखा-सूखा मैं खाता हूँ, वैसा आपके लिये भी है। आगे जैसी आपकी इच्छा।'

'हाँ, यही तो है मेरी इच्छा कि अब आपकी सेवा से छुट्टी लूँ। आप रईसों की तरह रहते हैं, मोटर रखते हैं और मुझसे

यह कहते हैं कि २५) रु० में मैं दो प्राणियों के शरीरों और आत्माओं को मिलाये रहूँ।'

'यह आपका भ्रम है, शर्मा जी। मैं अपने आप पर बहुत खर्च नहीं करता। मोटर सिर्फ 'बिजनैस-पालिसी' की वजह से रख छोड़ी है—और वह भी सिर्फ अखबार के फायदे के लिये। आप चाहें तो शौक से मोटर ले जाइये, मुझे कोई आपत्ति न होगी।'

'इस उदारता और कृपा के लिये धन्यवाद। मेरे लिये तो मोटर सात सफेद हाथियों से भी बढ़ कर है। खैर, तो मुझे कब तक छुट्टी दीजियेगा?'

'आप कल आकर अपना हिसाब ले जा सकते हैं।'

उन्हें धन्यवाद देकर मैं अपने घर चला आया।

[४]

घर आकर मैंने जब पत्नी से कहा कि आज मैं 'समता' की नौकरी छोड़ आया हूँ, तो मानो उस पर कोई असर ही नहीं हुआ। मुस्करा कर बोली—'योग्य आदमियों के लिये नौकरियों की क्या कमी है? कहीं न कहीं और मिल जायगी। मेरे पास यह जो थोड़े-बहुत गहनें हैं, यह फिर किस दिन काम आयेंगे? जब तक आपको और काम न मिले इन्हीं को बेचकर अपना गुजर-बसर करेंगे।'

'तुम ठीक कह रही हो शीला'—मैंने अपने अन्तस के

तूफान को दबाते हुए कहा—'पर क्या तुम मेरी एक बात मानोगी ?'

'वह क्या ?'

'थोड़े दिन के लिये तुम मैके चली जाओ, तो क्या हर्ज है ? मैं अकेले जैसे-तैसे अपना गुज़र कर लूँगा। फिर जब कोई काम मिल जाय, तो तुम्हें मैं स्वयं जाकर ले आऊँगा। तुम बड़े घर की बेटी हो, लाड़-प्यार और वैभव में पली हो। इस तङ्गदस्ती में भला तुम्हारे दिन कैसे कटेंगे ?'

'यह सब आप क्या कह रहे हैं ?' शीला ने आँखों में आँसू लाते हुए कहा—'मेरी तो कुछ समझ में ही नहीं आ रहा है। क्या आपने यह समझा है कि मैं केवल सुख के लोभ से आपके साथ हूँ—और दुःख में आपको छोड़ जाऊँगी ? यह आपका भ्रम है, भूल है। दुःख हो या सुख, मुझे तो छाया की तरह आपके पीछे-पीछे चलना है। सुख और दुःख तो वायु के झोंके की तरह हैं। जीवन में दोनो की समान रूप से आवश्यकता है। अब मेरा घर और कुल यही है। मैके में रह कर क्या मैं आपके बिना सुखी रह सकूँगी ? अब तो आप मेरा और मैं आपका सहारा बन चुकी हूँ।'

मैं आह्लाद से उछल पड़ा और शीला को गले लगाता हुआ बोला—'तुम स्त्री नहीं देवी हो, शीला ! काश, मैं अपने आपको तुम्हारे योग्य पति.....' शीला ने मेरे मुँह पर अपना हाथ रख दिया और मैं आगे कुछ भी नहीं बोल सका।

सुख और दुःख की परस्पर टकराती हुई लहरों पर हमारी जीवन-नौका चल पड़ी। शीला जैसी पत्नी पाकर कोई भी संसार के अतुलनीय वैभव को ठुकरा सकता था, पर पेट की भूख जो व्याकुल कर रही थी! कई बार चिन्ता के कारण मैं आपसे बाहर हो जाता, शीला को बुरा-भला कहता, पर वह नीचा सिर कर चुपचाप सब सह लेती। वह बड़े घर की बेटी और मैं शून्य का सम्राट उसके गहने बेच-बेच कर पेट भर रहा था और फिर उसी पर इतनी ऐंठ-अकड़? किन्तु क्या किया जाय, विधाता ने पुरुष को बनाया ही उस छिछले प्याले के समान है जो थोड़ी सी बूँदों से ही छलक पड़ता है!

शीला की भविष्यवाणी सत्य निकली। कोई एक मास बाद ही मुझे एक दैनिक पत्र में जगह मिल गई। पर जगह क्या मिली, मैं और अधिक चिन्ताओं का शिकार बन गया। मुझे काम करते-करते एक महीना हुआ, दूसरा हुआ, तीसरा भी बीत चला—पर वेतन के नाम हवा! सञ्चालक जी से भेंट होना ही दुश्वार था। या तो दिन भर बाहर रहते और अगर दफ़्र में होते तो इतने अधिक कार्यव्यस्त होते कि मुझे दर्शन देकर कृतार्थ करने का समय भी उनके पास न होता। न मालूम कैसे मैंने पूरे आठ महीने इस जगह काटे! रोटी पत्नी के गहनों पर खाता और वेतन जमा हो रहा था सञ्चालक महोदय की जेब में। आख़िर मैंने इनसे भी छुट्टी ली और बक़ाया वेतन अदालत के द्वारा कई मास बाद वसूल किया।

[५]

उस दिन की डाक में एक विलायत से आया हुआ लिफ़ाफ़ा भी था। सबसे पहले मैंने उसे ही खोला। उसमें छपे हुए कई काग़ज़ थे और थी 'स्वतन्त्र पत्रकार-कला की कुञ्जी' (Key to Free lance journalism) की विवरण-पुस्तिका ! मैं भाग कर शीला के पास गया और बोला—'रात को मैंने तुमसे जिस पुस्तक का ज़िक्र किया था, यह उसकी विवरण-पुस्तिका आई है। तुम जानती हो अख़बारों की नौकरियाँ करके मैं अब थक गया हूँ। कहीं वेतन की शिकायत, कहीं व्यवहार का गिला। नौकरियों में सब बातें मनोनुकूल हो ही कैसे सकती हैं। इसलिये मैंने स्वतन्त्र पत्रकार बनने का निश्चय किया है। न किसी की नौकरी और न किसी की चाकरी। घर पर आराम से रहे—जो कुछ लिखा उसके पारिश्रमिक से अपना गुज़र-बसर किया। बोलो तुम्हारी क्या राय है ?

'मेरी राय क्या ? जो आप ठीक समझते हैं, वही मुझे भी मन्जूर है। पर आप यह ध्यान रखें कि ज़ेवर का सिर्फ़ एक नग बचा है।'

'हाँ इसीलिये तो तुम्हारी राय ले रहा हूँ। तुम्हारे अन्तिम गहने के साथ मेरे इस पत्रकार बनने के ख़ब्त का भी अन्तिम प्रयोग होगा। इसकी सफलता या विफलता पर ही हमारे जीवन का भविष्य आश्रित है। तो फिर इस पुस्तक को मँगा लूँ न ?'

शीला ने स्वीकारात्मक रूप से सिर हिला दिया। मैं उसके अन्तिम गहने को बाजार में जाकर बेच आया और पुस्तक का मूल्य तथा डाकखर्च मनीऑर्डर से पेशगी भेज दिया। बड़ी उत्सुकता से मैं पुस्तक के आने की प्रतीक्षा करने लगा। आशा और उत्साह से रँगी हुई स्वर्णिम-कल्पना का एक धूमिल-चित्र मेरे सामने था!

थोड़े ही दिन बाद पुस्तक आ गई और मैं धर्म-ग्रन्थ की भाँति उसका पारायण करने लगा। तीन-तीन दिन तक मैं घर से बाहर नहीं निकला, शीला से कह दिया कि मुझे एक क्षण के लिए भी छेड़े नहीं, जिन चीज़ों की ज़रूरत हो स्वयं बाज़ार से जाकर ले आए और आगन्तुकों से कह दे कि मैं घर में नहीं हूँ। एक दो या तीन नहीं, पूरे आठ बार मैंने उस पुस्तक को पढ़ा। उसकी एक-एक बात को गले उतारा।

जब मैंने देखा कि पुस्तक की बातों को मैंने भलीभांति समझ लिया है, तो मैंने उसमें बताई हुई तरकीबों के मुताबिक कुछ चीज़ें लिखीं। पुस्तक में लिखा था कि आजकल जासूसी, हास्यरस और प्रेम की कहानियाँ लोग विशेष चाव से पढ़ते हैं। लेखो में काम-विज्ञान, स्वास्थ्य-रक्षा और राजनीति का बोलबाला है। कल्पना को अधिक से अधिक तेज़ करके मैंने कुछ कहानियाँ और कुछ लेख तैयार किये और उन्हें एक स्थानीय मासिक-पत्र के सम्पादक के पास ले गया। उन्होने लेखों और कहानियों में से कुछ को पसन्द किया और छापने का वादा भी किया।

मेरी दो तीन रचनाएँ जब निकल चुकीं तो मैं उस पत्र के सम्पादक महोदय के पास गया और बोला—'इनका पारिश्रमिक आप कब देंगे ?'

'पारिश्रमिक ?' आश्चर्य से मुँह फीका करके सम्पादक जी बोले—'पारिश्रमिक तो हम सिर्फ गिने-चुने लेखकों को ही देते हैं, क्योंकि हर लेखक को पारिश्रमिक देना सम्भव नहीं है। अगर आपको पारिश्रमिक लेना था तो आपने पहले क्यों नहीं कहा ?'

मैं सकपका गया। फिर कुछ सहम कर बोला—'तो आगे के लिये आपकी क्या राय है ?'

'अभी आपने कुल जमा तीन तो चीजें लिखी हैं और पारिश्रमिक की माँग करने लगे ? ज़रा विचार तो कीजिये, मैंने बराबर २० साल तक अपनी रचनाएँ पत्रों में छपवाईं, पर कभी फूटी कौड़ी भी नहीं ली। अगर आप पैसों के लिये लिखते हैं, तो फिर आप साहित्यसेवी कैसे ? आपकी रचनाओं में कला कब होगी ?'

'जब आप जैसे सम्पादक हिन्दी का पिण्ड छोड़ देंगे !' मैंने सूखी हँसी हँसते हुए कहा—'अमर और कलापूर्ण कृतियाँ तो आप जैसे निस्पृह सम्पादक और परोपकारी लेखकों ही की वसीयत है न ?' नमस्कार कर मैंने सम्पादक जी से सदा के लिये विदा ली।

पर इस 'प्रथम ग्रासे मक्षिका पातः' से मैं एकदम निराश न हुआ। मेरे आशा-दीपक में अभी थोड़ा-सा स्नेह बाक़ी था। उसी के सहारे मैंने आगे बढ़ने का निश्चय किया। कई मासिक, साप्ताहिक और दैनिक पत्रो को मैंने पत्र लिखे और नमूने के तौर पर अपनी एक-एक रचना भी भेज दी। कुछ ने तो उत्तर भी नहीं दिया और कुछ ने लिख दिया कि हम पारिश्रमिक देने में असमर्थ हैं, आपको पत्र मुफ़्त भेज सकते हैं। तीन या चार पत्रों ने लिखा कि आप कुछ रचनाएँ और भेजिये, इसके बाद हम पुरस्कार के सम्बन्ध में निर्णय करेंगे। परिस्थितियों का तकाजा था कि मैं इस शर्त्त को भी मंजूर कर लूँ। अतः मैं सप्ताह में ३ या ४ लेख तैयार कर भिन्न-भिन्न पत्रों को भेज देता।

[६]

मेरे लेखों का क्रम बराबर चल रहा था। रोज सुबह उठते ही मैं या तो किसी नये लेख के विषय पर मनन करता या किसी अधूरे लेख को पूरा करने की सोचता। संसार किधर जा रहा है, इसका मुझे कुछ पता नहीं था। मेरा दिन पढ़ने और लिखने में ही बीतता था। शीला से बात करने या दुःख-सुख पूछने की भी मुझे फ़ुर्सत नहीं थी। सुबह मैं उससे घण्टों पहले उठता और रात को घण्टो बाद में सोता। मेरी उपेक्षा के कारण वह कुछ उदास रहने लगी, उसका स्वास्थ्य भी गिरने लगा और मुझे

पत्रकार बनने का ऐसा ख़ब्त था कि उसके स्वास्थ्य की ओर ध्यान देना मेरे लिये असम्भव-सा था।

मेरे लेखों का क्रम चलते कोई १॥ साल होने को आया, पर पारिश्रमिक के रूप में मैं कुल ६०) या ७०) से अधिक न पा सका। इस दौरान में नोन, तेल और लकड़ी का ख़र्च कैसे चलता रहा, यह शीला ही जाने। तीन-चौथाई से अधिक लेखों का पुरस्कार चढ़ चुका था, पर सम्पादकगण कुछ भेजने का नाम तक न लेते थे। लेखों से अधिक पत्र मैं रिमाइन्डरों के रूप में लिख चुका था। या तो उनका उत्तर आता ही नहीं, अगर आता तो लिखा होता कि अभी हाथ ज़रा तङ्ग है, थोड़े दिन बाद आपका पुरस्कार पहुँच जायगा। पर प्रायः यह 'थोड़े' दिन 'बहुत' की भी सीमा को पार कर जाते थे और मैं उल्लू की तरह टापता ही रह जाता था।

शीला ने मुझसे कभी किसी चीज़ के लिये नहीं कहा। एक दिन बातों ही बातों में मैं पूछ बैठा—'शीला, पिछले ३ महीने से तो मेरे लेखों के पुरस्कार की एक कौड़ी भी नहीं आई, तुम आख़िर घर का ख़र्च कैसे चला रही हो?'

'जैसे अब तक चल रहा था, वैसे ही।'

'आख़िर मैं भी तो सुनूँ।'

'भैया ने राखी के ५०) भेजे थे, उन्हीं से काम चल रहा है। अब वे भी समाप्ति पर हैं।'

'भैया ने राखी के ५०) भेजे थे !' मैंने आश्चर्य और क्रोध मिश्रित स्वर में कहा—'ऐसे कौन तुम्हारे भैया बड़े रईस या नवाबज़ादे हैं। शीला, तुमने मेरी रही-सही पर भी पानी फेर दिया। भला वे मन में क्या समझेंगे कि ऐसे निठल्लू को बहनोई बनाया, जो हमारे ही टुकड़ों पर पेट पाल रहा है। ख़बरदार, आगे से अपने भैया से एक पाई भी न मँगाना। जैसे होगा, हम अपना गुज़र करेंगे—न होगा भूखे रहेंगे; पर दूसरों का अहसान लेना मुझ स्वीकार नहीं, समझीं।'

शीला नीची आँखें किये मेरी सब बातें सुनती रही। जब मैं बाहर जाने को हुआ तो बोली—'अच्छा' तो आज आप अपनी कमाई के कुछ रुपये दीजिये ताकि सब सामान मँगाऊँ।' जेबों और सूट-केस को टटोलने के बाद मैंने कहा—'अच्छा, लौट कर आने पर कुछ दे दूँगा।'

अपनी डाक देखने मैं डाकख़ाने की ओर चल पड़ा। वहाँ जाकर देखा कि कुछ चिट्ठियाँ हैं और एक १०) का मनीआर्डर। मनीआर्डर 'हितैषी' से आया था और साथ में एक पत्र भी था। पत्र में लिखा था कि 'हम आपकी रचनाओं के लिये दे ही क्या सकते हैं ? यह १०) स्टेशनरी और डाक-ख़र्च के मध्ये समझें। 'हितैषी' आप ही जैसे उदार लेखकों की कृपा के सहारे चल रहा है। जिस दिन वह स्वावलम्बी हो जायगा, सबसे पहले हम आपकी सेवा में पत्र-पुष्प अर्पित करेंगे।' इन पंक्तियों को पढ़-

कर मेरा सिर चकरा गया ! कोई एक दर्जन से अधिक लेखों के लिये सिर्फ १०) ? इस तरह कैसे गुजर होगा ?

घर पहुँच कर मैंने १०) और 'हितैषी' सम्पादक का पत्र मैंने शीला के सामने रख दिया। पत्र पढ़ने के बाद शीला ने रुपयों को बजाकर मुस्कराते हुए कहा—'यह कितने दिन चलेंगे ?'

मैंने खिन्नता से मुँह लटकाये हुए ही कहा—'जब तक भी चल सकें। तुम्हीं बताओ, आखिर किया भी क्या जाय।'

'मैं तो कितनी बार कह चुकी हूँ कि यह खब्त अब छोड़ो। पत्रकार तो आप बन ही चुके, अब कोई ऐसा काम कीजिये, जिससे रोटी का खर्च निकले। दिन-रात की हाय-तोबा के बाद अगर लिखने से रोटी भी न मिल सके, तो जहन्नुम में जाय ऐसा लिखना।'

'पर शीला तुम यह नहीं सोचतीं कि जीवन भर के इस परिश्रम पर क्या पानी फेर दूँ ? और क्या करूँ ?'

'मैं यह नहीं कहती। पर जरा सोचिये, कल बुढ़ापे में जब हाथ-पाँव और आँख-कान विशेष काम न देंगे, तो गुजर कैसे होगा ?'

'यह तब देखा जायगा। अभी तो आज की चिन्ता करो।'

[७]

शीला को रोग-शैया पर पड़े-पड़े दो मास से अधिक हो गये। अब मैं उसकी अधिक उपेक्षा नहीं कर सकता था। उसका शरीर धीरे-धीरे गल रहा था—अस्थि-पञ्जर मात्र शेष रह गया

था। छोटे-मोटे हकीम, वैद्य और डाक्टरों के इलाज से जब कुछ भी लाभ न हुआ और उसकी हालत दिन-दिन अधिक बिगड़ने लगी तो मैंने उसे सिविल-सर्जन को दिखाने का निश्चय किया।

जैसे-तैसे मैंने फीस के ३२) जमा किये और सिविल-सर्जन को अपने घर लाया। शीला का निरीक्षण करने के बाद मेरी ओर देख कर सर्जन ने पूछा—'इनकी तबियत कब से अलील रहती है ?'

'कोई दो महीने हुए होंगे।' मैंने कहा।

'दो महीने ?' सर्जन ने आश्चर्य से आँखें फाड़ कर कहा 'यह मैं नहीं मान सकता। रोग अपनी प्राथमिक अवस्था को पार कर चुका है। इनका इलाज यहाँ न हो सकेगा। आप इन्हें किसी सैनिटोरियम में ले जाइये। अवस्था नाजुक है।'

इतना कह कर सर्जन महोदय अपनी दक्षिणा लेकर चल पड़े। मैंने डबडबाई आँखों से शीला के मुर्झाये हुए मुँह की ओर ताकते हुए कहा—'सुना शीला, तुम्हे तपेदिक़ हो गई है।'

'यह आपकी जानकारी के लिये है'—शीला ने फीकी मुस्करा-हट के साथ कहा—'मुझे तो यह कभी मालूम हो चुका था।'

'शीला, तुमने मेरे साथ विश्वासघात किया। पगली, यह मुझसे पहले क्यों नहीं कहा ?' मैं चीख उठा।

'पहले कब और कैसे कहती ? आपके पास न समय था और न मेरे इलाज के लिये धन। फिर आपको व्यर्थ चिन्ता में डाल कर क्या करती ?'

'शीला, तुमने मुझे कहीं का न रक्खा! पर खैर अब भी क्या बिगड़ा है, मैं तुम्हें भुवाली ले चलूंगा। मैं शक्ति भर तुम्हें जुदा न होने दूँगा। मैं तुम्हें खो नहीं सकता, शीला।'

'यह आप सोच सकते हैं, पर नियति तो अपना काम करेगी ही। अगर आप मेरी बात मानें, तो अब इलाज की चिन्ता छोड़िये। दुनिया का कोई भी माहिर मुझे बचा नहीं सकता। मैं बच नहीं सकती। मुझे दिखाई दे रहा है कि मेरी आयु पूरी हो चुकी।'

'शीला, यह तुम आज क्या बक रही हो? तुम्हें खो कर क्या मैं दुनिया में जी सकूँगा? मुझे अनाथ करके क्या तुम स्वर्ग में सुख और शान्ति से रह सकोगी?'

'नहीं, कदापि नहीं!' शीला ने उमड़ते हुए आँसुओं को आँचल से पोंछते हुए कहा—'पर हमने प्रकृति का जो गला घोंटा है, उसका बदला तो चुकाना ही होगा।'

मैं चुपचाप आँसू पोंछते हुए शीला के सामने से हट गया और भुवाली जाने के लिये धन जुटाने की चिन्ता में लग गया। अपने परिचितों से कुछ रुपये उधार लेने की भी कोशिश की, पर अधिक सफलता नहीं मिली। जिनके पास धन था वे इस डर से देने में आनाकानी करते थे कि मैं उन्हें उनका रुपया वापिस कैसे कर सकूँगा, जब मेरी आय से मेरा गुजर भी नहीं चलता। जो सच्चे हृदय वाले थे, उनके पास धरा ही क्या था?

लेखों की आय से २०)-२५) मासिक से अधिक नहीं मिल पाते थे। आख़िर मुझे एक बात सूझी—'जो उपन्यास अधूरा पड़ा है, उसी को पूरा क्यों न कर दूँ? शायद उसे लेकर कोई प्रकाशक कुछ रुपया पेशगी दे दे।' यह ख़याल आने के दूसरे ही क्षण से मैं उपन्यास को पूरा करने में जुट पड़ा।

पूरे १३ दिन में—रात और दिन एक कर—मैंने उपन्यास पूरा किया और उसे लेकर एक धनी प्रकाशक के पास पहुँचा, जो उपन्यासों के प्रकाशन में सबसे बढ़े-चढ़े थे और साथ ही बड़े दयालु और उदार भी कहे जाते थे। मैंने उपन्यास की हस्तलिखित प्रति उनके सामने रखते हुए कहा—'आपने मुझसे कहा था न कि आजकल उपन्यास और कहानी-क़िस्से ही बहुत बिकते हैं। इसलिये इस बार मैंने भी एक उपन्यास लिख डाला है। विषय बड़ा रोचक है, हाथोंहाथ बिक जायगा।'

'शर्मा जी, आप बड़ी भोली बातें करते हैं।'—सूखी हँसी हँसते हुए वृद्ध प्रकाशक जी ने फ़र्माया—'आप देखते नहीं, 'सीज़न' कितना 'डल' हो रहा है। आजकल एक हज़ार का संस्करण निकलना भी मुश्क़िल हो रहा है।'

मुझ पर मानों घड़ों ठंडा पानी पड़ गया। स्थिति को सँभालने का यत्न करते हुए मैंने कहा—'अजी यह भी कोई बात है, आपके लिये एक हज़ार का संस्करण निकाल देना क्या बड़ी बात है?'

'यह ठीक है, पर अब वक्त वह नहीं रहा, जो पहले था। फिर हमारे पास अभी आठ उपन्यास छपने को और पड़े हैं।'

'बड़े प्रकाशकों के यहाँ यह तो स्वाभाविक ही है। मैं यह तो नहीं कहता कि आप मेरा उपन्यास उनसे पहले छाप दीजिये, पर बात तय हो जानी चाहिये।'

बड़ी मुश्किल से खींच-तान कर मैंने बात को आगे बढ़ाया। उपन्यास लेने पर तो वे राजी हो गये, किन्तु कुछ रक़म पेशगी देने की बात पर अड़ गये। बोले—'वाह साहब, मड़वा अभी गड़ा ही नहीं और आप चाहते हैं कि विवाह हो जाय।' मैंने उन्हें अपनी पत्नी की अवस्था बतलाई और बड़ी मिन्नत-ख़ुशामद की। तब कहीं जाकर उनका हृदय कुछ पसीजा और बमुश्किल तमाम ५०) रुपये का एक चैक मुझे काट दिया। चैक को मैंने जेब के हवाले किया और प्रकाशक महोदय को बहुत-बहुत धन्यवाद देते हुए मैं घर की ओर लौटा।

घर के सहन में पहुँचते ही मैंने गद्गद् कण्ठ से पुकारा 'शीला'—पर कोई जवाब न मिला। एक हाथ में छड़ी और दूसरें मे चेक थामे हुए मैं उसके कमरे की ओर बढ़ा। पर यह क्या ?—उसका मुँह खुला था और आँखें पथरा गई थीं ?

मैं इस दृश्य को अधिक न देख सका। मेरी आँखों के आगे अँधियारी छा गई और मैं अर्ध-मूर्च्छित अवस्था में वहीं गिर पड़ा !

मातृत्व की भूख

रोज़ प्रातःकाल जब मैं वायु-सेवन को जाता, बुढ़िया भिखारिन अपनी लाठी टेकती-टेकती आकर मेरा मार्ग रोक लेती और कहती—'बेटा, परमात्मा के लिये एक पैसा देजा। मालिक तेरा भला करेगा। तेरी हज़ारी उम्र करेगा। तुझे बेटा-बेटी देगा। तेरी रोज़ी बढ़ायेगा। दिन दूनी और रात चौगुनी तरक़्क़ी करेगा। तुझे दूध-पूत देगा।'

न मालूम कब से बुढ़िया मुझे यह सब कह रही थी। पर मैंने कभी उसकी ओर ध्यान ही नहीं दिया। शहर के किसी भी कोने में भीख माँगने वाले पुरुषों, स्त्रियों और बच्चों की कमी नहीं थी। रोज़ मेरा कोई दो दर्जन भिखारियों से साबिक़ा पड़ता था। सब क़रीब-क़रीब ऐसी दुआएँ देते और पैसा माँगते। जेब में कभी पैसे हुए तो देकर अपना पिंड छुड़ाता, पर अगर किसी दिन जेब ख़ाली हुई तो आफ़त आ जाती थी। बड़ी दूर तक भिखारी अपनी दुआओं को दोहराते हुए पीछे-

पीछे चलते थे। मैं कह देता—'आज पैसा नहीं है, ख़ुदा के लिये माफ़ करो बाबा।' पर उन्हें मेरी बात पर विश्वास नहीं होता। वे समझते मेरे पास एक नहीं बहुत से पैसे हैं, मगर मैं न देने के लिये बहाना बना रहा हूँ। आख़िर मैं चुप हो जाता और अपने मार्ग पर तेज़ी से बढ़ जाता। निराश होकर एक-एक कर भिखारी मेरा पीछा छोड़ देते और बड़ी दूर जाकर कहीं मैं सन्तोष की साँस ले पाता।

एक दिन की बात तो मुझे कभी नहीं भूलेगी। स्कूल का समय हो गया था और मैं घर से रवाना भी नहीं हुआ था। सोचा, अगर पैदल चलूँगा, तो बड़ी देर हो जायगी। अतः गली के नुक्कड़ पर से मैंने ताँगा किया और ताँगे वाले से कहा कि एकदम सरपट ले चल—देर हो रही है। ताँगा तेज़ी के साथ चल पड़ा। ताँगा कुछ ही क़दम चल पाया होगा कि देखता हूँ कि मेरी उस परिचित भिखारिन की एक ८-९ साल की नङ्ग-धड़ङ्ग लड़की मैले-फटे कपड़े की काछनी सी कसे हुए ताँगे का पावदान पकड़ कर उसके साथ-साथ दौड़ी चल रही है और कह रही है—'बाबू जी, एक पैसा दे दे, ईश्वर के नाम पर। परमात्मा तेरे बाल-बच्चों की ख़ैर करे। तुझे अमर रक्खे। एक पैसा दे दे बाबू—एक पैसा।' मेरे पास ताँगे वाले को देने के लिये एक चवन्नी को छोड़ कर और कुछ नहीं था। अब क्या करता? मैंने कहा—'बेटी, इस वक़्त पैसा नहीं है, फिर कभी लेना।' पर उसने मानो मेरी बात सुनी ही न हो।

फिर-फिर कर वह अपनी बात दोहराने लगी। ताँगा तेजी से आगे बढ़ा जा रहा था और उसके साथ ही बढ़ी जा रही थी पसीने से तर-ब-तर वह भिखारिन लड़की ! कभी मुझे उसकी इस हठ पर क्रोध आता और कभी दया। मेरी आँखें सजल हो रही थीं, हृदय पसीज रहा था। बार-बार मैं अपनी इस हृदय-हीनता और विवशता के लिये मन ही मन अपने आपको धिक्कार रहा था। मन ही मन कह रहा था, कुछ पैसे तो वक्त-जरूरत के लिये जेब मे रखने ही चाहिये थे। ताँगा तेजी के साथ चला जा रहा था और लड़की पावदान छोड़ नहीं रही थी। सड़क पर ताँगों, मोटरों, साइकिलों और इक्कों का यातायात बढ़ रहा था। मुझे डर लग रहा था कि कहीं लड़की किसी सवारी के नीचे न आ जाय, वरना एक पैसे के लिये उसकी जान चली जायगी। मैं मना कर रहा था, पर लड़की मान नहीं रही थी। जब ताँगा अपनी १॥ मील की मञ्जिल तय कर स्कूल के दरवाजे के सामने खड़ा हुआ तब लड़की ने उसका पावदान छोड़ा और जोर से हाँफते हुए कहा—'बाबू... एक...पैसा...!' मैंने क्रोध, घृणा, दया और घबराहट-मिश्रित एक दृष्टि लड़की के पसीने से भीगे हुए शरीर और लाल हुए मुँह पर डाली और फिर बटुआ खोल कर उसमे चाँदी की छोटी चवन्नी ढूँढ़ने लगा। जब चवन्नी निकाल कर मैं ताँगे वाले को देने लगा तो क्या देखता हूँ कि लड़की धड़ाम से जमीन पर गिर पड़ी। उसके मुँह से सफ़ेद-सफ़ेद झाग निकलने लगे।

वह बेहोश हो गई थी ! मैं सर से पाँव तक काँप उठा। यह मैंने क्या किया ? एक पैसा दे देता तो क्यों इसे २॥ मील दौड़ना पड़ता और क्यों इसकी यह दशा होती ? पर दे कहाँ से देता ? मेरे पास था भी तो नहीं। जो भी कुछ हो, दोष मेरा ही था।

मैं दौड़कर हेडमास्टर के पास गया। उन्हें सारा क़िस्सा सुना कर दो घण्टे की छुट्टी ली और एक रुपया भी उधार लिया। उसी ताँगे में मैं लड़की को अस्पताल ले गया। वहाँ जब डाक्टर ने कहा कि घबराने की कोई बात नहीं, गर्मी की वजह से लड़की को ग़श आ गया है, अभी ठीक हो जाती है; तब कहीं मेरे जी में जी आया। थोड़ी देर बाद लड़की होश में आ गई। उसने चारों ओर खड़े हुए अपरिचित लोगों को गहरी दृष्टि से देखा और फिर मेरी ओर देख कर बोली—'मेरी माँ कहाँ है ? मुझे यहाँ कौन ले आया ? बाबू जी, मेरा पैसा ???' मैंने लड़की को ढारस बँधाया और उसे उसकी माँ के पास पहुँचा दिया। ताँगे—वाले को किराया देने के बाद जितने पैसे मेरे पास बचे, वे सब मैंने उसे दे दिये। पैसों से मुट्ठी भरी देख कर लड़की आनन्द से उछल पड़ी और सिर हिलाकर हँसती हुई बोली—'तुम बड़े अच्छे बाबू हो। रोज़ मुझे इतने पैसे दिया करोगे न ?' मैंने कहा—'नहीं, रोज़ तुम इतने पैसे सँभाल न सकोगी, इस लिये तुम्हें एक पैसा दिया करूँगा।'

माँ ने लड़की को छाती से लगा लिया और मैं स्कूल की ओर चल पड़ा।

[२]

अपने छोटे से घर में मैं अकेला रहता था। स्कूल में जाकर पढ़ा आना और सुबह-शाम घूम आना ही मेरे मुख्य काम थे। उस दिन घर लौटने पर मुझे उस लड़की के बेहोश हो जाने की बात पर बड़ा दुःख हुआ। बार-बार मैं अपने आपसे यही प्रश्न करता कि अगर वह मर जाती, तब? पर इसका उत्तर मैं नहीं दे सकता था। तरह-तरह की आशङ्काएँ मन में उठ रही थीं। इस घटना से मैंने यह सबक़ सीखा कि आगे से किसी भी भिखारी के ज़िद करने पर उसे फ़ौरन पैसा दे दिया करूँगा, नहीं तो फिर कहीं यही बात न हो।

अब जब कभी मैं अपने घर के रास्ते से निकलता बुढ़िया मुझे दुआएँ देने लगती और उसकी लड़की हाथ फैला कर मेरी ओर आती। मैं बिना कुछ कहे-सुने एक पैसा उसके हाथ पर रख देता। लड़की ख़ुश-ख़ुश उछलती-कूदती जाकर अपनी माँ के गले से लिपट जाती। यह देखकर मैं मन ही मन फूला न समाता।

पर दुर्भाग्यवश यह क्रम अधिक दिन तक न चल सका। ईमान्दारी और सन्तोषजनक ढङ्ग से अपना काम करने के बावजूद मुझे छँटनी में ले लिया गया। अब मुझे ३०) रुपये मासिक की आय से भी हाथ धोने पड़े। और कोई सहारा था नहीं। आखिर मैंने दो-एक ट्यूशनें ले लीं और उन्हीं से अपना गुज़र-बसर करने लगा। मैंने भिखारिन को यह मालूम न होने

दिया कि मेरी नौकरी छूट गई है और उसकी लड़की को रोज़ एक पैसा देता रहा। पर कहिये यह या तो मैं अपनी झूठी शान बघारने के लिये कर रहा था या उन सूक्ष्म मानवी भावों के वशीभूत होकर, जो दृश्य-जगत् से बाहर की चीज़ हैं और जिन्हें कोई लेखक अपनी लेखनी द्वारा व्यक्त नहीं कर सका है। ३०) रुपये के स्थान पर अब मुझे १२) या १५) मासिक से अधिक नहीं मिलते थे। ऐसी दशा में मेरा तङ्गदस्त होना स्वाभाविक था। मैंने अपने घी, दूध और फलों का ख़र्च क़तई बन्द कर दिया। दाल-रोटी शरीर और आत्मा को साथ रखने के लिये ज़रूरी थे। ५) मासिक मकान के किराये के देने ही पड़ते थे और कोई फ़ालतू ख़र्च था नहीं, जिसे कम किया जाता।

कुछ दिन बाद मेरी एक ट्यूशन छूट गई। अब तो मुझे महीने में सिर्फ़ ९) ही रुपये मिलने लगे। उसमें से मकान-किराये के ५) निकाल देने पर पेट की आग बुझाने के लिये मेरे पास केवल ४) बच रहते! अब रोटी-दाल का ख़र्च भी पूरा होना कठिन हो गया। जिस बात की मैंने कभी कल्पना भी न की थी, अब मुझे वही मथने लगी। मेरे मन में यही विचार उठने लगा कि जिस क्रूर विधाता ने मुझे भाग्य का इतना हेठा और ग़रीब बनाया, उसने मुझे हृदय इतना कोमल और उदार क्यों दिया? कहते हुए शर्म लगती है, पर मैं व्यर्थ बड़प्पन की विडम्बना क्यों करूँ, जब ऐसी कोई चीज़ ही मेरे पास नहीं है। मुझे अनायास ख़याल आया कि यह भिखारिन को जो एक पैसा रोज़ देता हूँ,

इसे क्यों न बन्द कर दूँ ? महीने में साढ़े सात आने की तो बचत होगी ही। जब मैं पर्याप्त वेतन पाता था, तो उसे भी पैसा देता था, अब जब मैं स्वयं कुछ नहीं कमा रहा हूँ, तो उसे कहाँ से दूँ ? मुझे उससे यह साफ-साफ कह देना चाहिये। इसमे ग्लानि या लज्जा की क्या बात ? ज्यादा करेगी वह दुआएँ न देगी, दो बद्दुआएँ दे लेगी। बस ! उससे मेरा बनता-बिगड़ता कुछ नहीं। इस मानसिक-वेदना से तो पीछा छूटेगा। यह विडम्बना आखिर कब तक चलेगी ? साधन-हीन की दानशीलता ही क्या ?

मुझे और गाढ़े समय का सामना करना पड़ा। एक ट्यूशन और कम हो गई। अब केवल ५) की एक ही ट्यूशन बच रही—जो घर के किराये भर के लिये हो सकती थी। अब पेट की आग बुझाने के लिये एक बड़ा प्रश्नसूचक चिन्ह ही मेरे सामने रह गया था। रात भर मुझे इसी चिन्ता में नींद नहीं आई। जैसे-तैसे रात बीती। दूसरे दिन उठ कर मैंने सोचा कि जो मित्र-परिचित हैं, उनके द्वार खटखटाये जावें, शायद किसी का दिल पसीजे और वह मेरी सहायता कर या करा सके। बड़े तड़के मैं घर से निकल पड़ा। दिमाग़ भारी था। निराशा और चिन्ता मेरे चारों ओर मँडरा रही थीं। न जाने क्या-क्या सोचता हुआ मैं चला जा रहा था कि अनायास बुढ़िया भिखारिन अपनी लाठी टेकती-टेकती आई और हाथ फैला कर

बोली—'बेटा, मालिक तेरा भला करेगा, तेरी हजारी उम्र करेगा। तेरी रोज़ी.........।'

'बस चुप रहो' मैंने क्रोध, आवेश, घृणा और अवज्ञा-मिश्रित स्वर में कहा—'तुम्हारी दुआओं से मेरी खूब रोजी बढ़ी। जो थी वह भी छूट गई। अब मैं बेकार हूँ, तुम्हें पैसा नहीं दे सकूँगा।'

'बेटा, क्या एक पैसा भी.........'

'हाँ, हाँ, कह दिया न—फूटी कौड़ी भी नहीं।'

'तो बेटा हम क्या खायँगे ?'

'पत्थर ! अपना और मेरा सिर। और भी कुछ खाओगी ?'

बुढ़िया आश्चर्य से मेरी ओर देख रही थी। जब मैं बकझक कर चलने लगा, वह सजल आँखों से मेरी ओर देखती हुई बोली—'मुझ पर नहीं तो मेरे इन बच्चों पर तो रहम करो, बेटा। मैं तो भूखी भी रह जाऊँगी, पर यह क्या करेंगे ? यह कैसे रहेगी ?'

'बुढ़िया, तुझे शर्म नहीं आती भीख माँगते ? क्यों करूँ मैं रहम तेरे इन बच्चों पर जब मुझ पर कोई रहम नहीं कर रहा है। अगर तेरे पास अपना पेट भरने को भी कुछ नहीं था, तो इन बच्चों को क्यों पैदा किया था ? इनकी जिन्दगी तो खराब न की होती।'

बुढ़िया की आँखें क्रोध और स्वाभिमान से चमक उठीं। उसने सधी हुई आवाज़ में कहा—'तुम पुरुष हो—अविवाहित

और गैरजिम्मेदार। तुम नहीं समझ सकते कि इन बच्चों को मैंने क्यों पैदा किया। अगर तुम स्त्री होते, माँ होते, तो शायद समझ सकते। सुनो, इन्हें मैंने नहीं, मेरी मातृत्व की भूख ने जन्म दिया—जिसने कि तुम्हें और हमें पैदा किया। वह ईश्वरीय प्रेरणा थी—एक दैवी आह्वान था। उसे रोकने की मुझमें शक्ति नहीं थी। उससे लोहा लेने की सामर्थ्य न थी। तुम मुझसे घृणा करो, मुझे नीची और घृणा की दृष्टि से देखो, पर अपनी नजरों में मैं ऊँची हूँ, पवित्र हूँ। पतिता और कुल-कलङ्किनी नहीं हूँ। मैं माँ हूँ, मैंने अपने मातृत्व के पवित्र कर्त्तव्य का पालन किया है। आज जो दुर्दिन मुझे देखना पड़ा है, वह तो भाग्य का चक्र है। सम्राट और सामर्थ्यशील भी इससे बच नहीं सके हैं। पर भीख माँगकर भी अगर मैं अपने बच्चों को जीवित रख सकी, तो मैं अपने आपको भाग्यशाली और कृतकृत्य समझूँगी। और बेटा, तुम...।'

बुढ़िया के शब्द तीर की तरह मेरे हृदय में चुभ रहे थे। मातृशक्ति का जो प्रताप मैंने उसके फटे चिथड़ों मे और झुर्रियाँ पड़े हुए चेहरे पर देखा, उसने मुझे बुरी तरह विचलित कर दिया। बुढ़िया की तेजपूर्ण आँखों के सामने मैं अधिक देर ठहर न सका और क़दम बढ़ा कर निकल गया। बुढ़िया की आवाज़ काफी आगे बढ़ने तक मेरे कानों में पड़ती रही, पर मैं रुका नहीं। पीछे देखने तक का भी मुझे साहस न हुआ।

[२]

दिन भर मैं बिना कुछ खाये-पिये पैदल घूमता रहा। एक-एक कर अपने सभी मित्रों और परिचितों को टटोला, पर किसी ने मेरी चिन्ता दूर करने का उपाय नहीं सुझाया। पान, बीड़ी-सिगरेट और चाय के लिये सब ने पूछा, पर जब मैंने अपनी कठिनाई बताई तो सब ने हँस कर यही कहा--'म्याँ, सब कुछ ठीक हो जायगा, फ़िक्र किस बात की है? बस, दो दिन की बेकारी से ही घबरा गये!' इन शब्दों से मुझे कैसे धीरज बँधती? आखिर निराशा से कुण्ठित और थकावट से चूर-चूर होकर मैं रात को कोई ११॥ बजे घर लौटा।

पर यह देख कर मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा कि मेरे कमरे के किवाड़ों को सहारा बना कर वह बुढ़िया भिखारिन बैठी सो रही है। मैंने उसका हाथ हिलाया और वह जाग पड़ी। मेरे कुछ बोलने से पहले ही, वह उठ खड़ी हुई और बोली—'बेटा, तुम आगये। मैं साँझ से तुम्हारा इन्तज़ार कर रही थी। मैंने सोचा...'

'मेरा सिर!' बीच में ही बुढ़िया की बात को काटते हुए मैंने झल्ला कर कहा और ताला खोल कर कमरे में घुसते हुए बोला—'तू अब रात को भी मेरा पीछा न छोड़ेगी?' बिजली जला कर मैंने जेब से एक पैसा निकाला और उसकी ओर बढ़ाते हुए कहा—'ले यह पैसा और ख़ुदा के लिये मेरा पिण्ड छोड़!'

अपना भारी सिर हिलाते हुए बुढ़िया ने कहा—'नहीं बेटा, मैं पैसा लेने नहीं आई हूँ। तेरी नौकरी छूट जाने का हाल सुनकर मुझे दुःख हुआ। मेरे जैसे यह बच्चे वैसा ही तू है—बेटा, जब तक तुझे काम न मिले तू खाने-पीने की चिन्ता न करना। जो कुछ रूखा-सूखा मैं खाती हूँ वही तेरे लिये भी हाजिर है। इसमे सङ्कोच की बात क्या है?'

मैं यह सुनकर अवाक् रह गया। यह दृश्य मेरी समझ और कल्पना के बाहर का था। बुढ़िया की बातों पर मुझे सहसा विश्वास नहीं हो रहा था। दुनियाँ के आगे हाथ फैलाने वाली वह बुढ़िया—भिखारिन—इतनी उदार हो सकती है, यह मैं कैसे मान लेता? मुझे अपनी रुखाई पर लज्जा आई। जी में आया कि इसके पाँव चूम लूँ, पर वह भिखारिन थी—संसार की घृणा और उपेक्षा की पात्र—यही समझ कर मै रुक गया। मैंने आश्चर्य और आल्हाद-मिश्रित स्वर में कहा—'सचमुच तुमने मां का हृदय पाया है, बुढ़िया! पर जानती हो, तुम्हारे टुकड़ों पर पेट पाल कर मैं समाज मे कैसे रह सकूँगा? दुनियाँ मुझे क्या कहेगी??'

'दुनियाँ क्या कहेगी? भोला बचा कहीं का'—भिखारिन ने दाँत पीस कर गम्भीरतापूर्वक कहा—'कुछ भी कहा करे, तुम उसकी परवाह क्यों करते हो? जिस दुनियाँ ने बेकारी में तुम्हारी मदद नहीं की, जो अगर तुम भूख से मर भी जाओ, तो भी खयाल तक न करेगी, उस निगोड़ी दुनियां की तुम्हें

इतनी फ़िक्र है ? अरे, दुनियाँ तो सुख में हमसे ईर्ष्या करती है और दुःख में हमारी हँसी उड़ाती है। मुझे दुनियाँ ने क्या नहीं कहा, पर भूखों मरने और अपने बच्चों को बेचने या अफ़ीम खिलाकर मार डालने से मैंने भीख माँग कर पेट पालना बेहतर समझा। वहीं मैं कर रही हूँ, दुनियाँ मेरी बला से कुछ भी कहा करे।'

'तुम ठीक कह रही हो माँ' मैंने गद्गद् स्वर में कहा—'अभी कुछ दिन गुज़र करने लायक मेरे पास साधन हैं। जब बिलकुल हाथ रुक जायगा, तो तुम्हारी सहायता लूँगा। मैं भी दुनियाँ की पर्वा नहीं करूँगा।'

'तुझे मेरी सौगन्ध है बेटा, अगर थोड़ी भी शर्म या संकोच किया तो। बहुत तो नहीं, पर थोड़ी-बहुत सहायता जो मुझ से हो सकेगी, तेरी ज़रूर करूँगी। आज से तू मेरा धर्म का बेटा और मैं तेरी माँ हूँ। हूँ न ?' बुढ़िया ने मुस्कराते हुए कहा।

'हाँ-हाँ, तुम मेरी माँ हो'—मैंने काँपती हुई आवाज़ में कहा—'पर क्यों माँ, क्या एक बात बताओगी ?'

'क्यों नहीं ?'

'तुमने मेरी सुबह की बात से बुरा तो नहीं माना। मैं मानता हूँ कि मैंने तुम्हें बहुत कुछ ऐसी बातें कह दीं, जो शायद मुझे तुम्हें नहीं कहनी चाहिये थीं। पर सच मानो माँ, उस समय मेरा दिमाग़ ठिकाने नहीं था। मन उचाट हो रहा था। मैं आपे में नहीं था। तुम जानती हो—'

'बस कर बेटा, मैं समझ गई। यही मैंने समझा था। अपने बच्चों की भली-बुरी बातों से भला मां-बाप कहीं बुरा माना करते हैं ?'

बुढ़िया ने लाठी उठाई और चलने को हुई। मैंने उसकी लाठी पकड़ ली और बच्चों की तरह जिद करते हुए कहा—'अगर तुम मेरी माँ हो तो सुबह की बातो के लिए मुझे क्षमा कर दो, तब जाने दूँगा।'

बुढ़िया फिर मुस्कराई और बोली—'क्षमा क्यों कर दूँ ? मैं तो तुझे उसके लिये सज़ा दूँगी, ताकि तू आगे से कभी ऐसी ग़लती न करे।' यह कह कर वह खिलखिला कर हँस पड़ी और दरवाज़े से बाहर हो गई। मैं कुछ भी नहीं बोल सका। तस्वीर की तरह खड़ा-खड़ा उसकी ओर देखता रहा।

बुढ़िया के चले जाने पर मैं आज की घटना पर विचार करता रहा। यह मेरे ही जीवन की नहीं, बहुतों के जीवन की एक अनोखी और अनहोनी बात थी। बहुतों को तो शायद इस पर विश्वास ही न हो। अगर किसी के मुँह से सुनता तो शायद मुझे भी ऐसी बात पर सहसा विश्वास न होता, पर जो मेरे सामने प्रत्यक्ष सत्य के रूप मे मौजूद है, उस पर मैं अविश्वास कैसे करूँ ? आज मेरी प्रसन्नता का ठिकाना न था—मानो मैंने अपना सबसे बड़ा आश्रय खोज निकाला था।

[४]

मैंने तार को पढ़ा और मन ही मन इतना .खुश हुआ मानो मुझे खोया हुआ खज़ाना मिल गया हो। मैं दौड़ता हुआ बुढ़िया के पास गया और बोला—'माँ, आज तुम्हें एक .खुशख़बरी सुनाने आया हूँ।'

बुढ़िया को मानो सब कुछ मालूम था। उसने मुस्कराते हुए कहा—'तू बड़ा भाग्यशाली है, बेटा। आख़िर तेरी पुकार परमात्मा ने सुन ही ली न? अच्छा, बता तो भला क्या हुआ?'

'यह देखो'—जेब में से तार निकालते हुए मैंने कहा—'यह है मेरी अर्ज़ी का जवाब। मुझे नियुक्त कर दिया गया है और लिखा है कि पहली तारीख़ को आ जाओ। वेतन १००) मासिक होगा।'

'बेटा, धीरज का फ़ल हमेशा मीठा ही होता है। ईश्वर करे तू सुख से रहे। मेरे लिये इससे अधिक .खुशी की और क्या बात हो सकती है? पर इस बुढ़िया को भी कभी भूले-भटके याद कर लिया करना।'

'याद करना कैसा, माँ? अब तो जहाँ कहीं रहेंगे हम सब साथ रहेंगे। अब तुम और मैं कोई ग़ैर थोड़े ही हैं?'

'क्यों इस बुढ़िया को काँटों में घसीट रहा है, बेटा। मैं तो यहीं भली। जो कुछ रूखा-सूखा ईश्वर देगा उसी से अपना और अपने बच्चों का पेट भरूँगी।'

'नहीं माँ, यह नहीं हो सकता, हर्गिज़ नहीं हो सकता। मुझे यह कब सह्य होगा कि मैं ज़रूरत से ज्यादा कमाऊँ और तुम भीख माँगो। आख़िर १००) रु० हर महीने मैं अकेला तो ख़र्च नहीं कर दूँगा।'

'पर लोग क्या कहेंगे? दुनिया क्या कहेगी? एक अकेला नौजवान और एक बुढ़िया भिखारिन के साथ रहे? यह सब भला.........'

'यह तुम क्या कह रही हो? कल तक तो तुम मुझे कहती थीं कि दुनियाँ सुख में हम से ईर्ष्या करती है और दुःख में हमारी हँसी उड़ाती है; फिर आज तुम्हें 'दुनिया की चिन्ता क्यों? दुनिया कुछ भी कहा करे हमें उसके पीछे अपनी ज़िन्दगी को तो बरबाद न कर देना चाहिये।'

'तो तुम समझते हो मेरी बरबादी में अभी कुछ कोर-कसर है?'

'नहीं, पर जान-बूझ कर काठ में पाँव देना बुद्धिमत्ता नहीं। अपनी नहीं तो इन बच्चों की ओर तो देखो। क्या तुम्हारी भीख पर पल कर यह कल को सफल और सुयोग्य नागरिक बन सकेंगे?'

'तुम यह कैसी बातें कर रहे हो? जिसे पेट भरने को रोटी भी मयस्सर न हो, उसके नागरिक बनने की कल्पना खिलवाड़ नहीं तो क्या है?'

'जो भी कुछ हो, तुम्हें मेरी बात माननी पड़ेगी। मेरे, अपने या ईश्वर के लिये नहीं तो कम से कम इन बच्चों के लिये ही सही; पर तुम्हें अब इस नरक में मैं सड़ता हुआ नहीं देख सकता।'

[५]

बनारस छावनी पर ज्यों ही गाड़ी रुकी, खिड़की खोल कर मैं प्लेटफार्म पर उतरा। अभी मैं मज़दूर को बुलाने की फ़िक्र में ही था कि एक साहब मेरे पास आये, आदाब अर्ज़ किया, हाथ मिलाया और बोले—'बाबू दुर्गाशङ्कर आप ही का शुभ नाम है?'

'जी हां'—मैंने साश्चर्य बनावटी मुस्कराहट से कहा।

'आप देहली से तशरीफ़ ला रहे हैं?'

'जी हां।'

'यह बुढ़िया और यह बच्चे कौन हैं?'

'बुढ़िया मेरी मां है और यह बच्चे उसी के हैं।'

'गोया आपकी सगी मां है?'

'जी नहीं, धर्म की।'

'क्या खूब? क्यों साहब, मां भी क्या धर्म और अधर्म की अलग-अलग होती है?'

'मैं इस वक़्त बहस नहीं करना चाहता। जो कुछ ठीक था मैं आपसे कह चुका हूं।' यह कह कर मैं आगे बढ़ा और एक

मजदूर से सामान उतारने को कहा। इतने में वह साहब—जिनके ख़ुफिया-पुलिस का आदमी होने में मुझे अब तनिक भी सन्देह नहीं रहा था—फिर मेरे सामने आये और बोले—'आपको पुलिस-स्टेशन पर चलना पड़ेगा।'

इसमें मुझे आपत्ति हो ही कैसे सकती थी। मैं उनके साथ चल पड़ा। थाने में पहुँच कर खूब जाँच-पड़ताल की गई। आख़िर जब दारोगा साहब को यह विश्वास हो गया कि मैं बुढ़िया और उसके बच्चों को भगा कर नहीं ला रहा हूं, तो मुझे उन्होंने छोड़ दिया।

× × ×

मुझे यह जानकर अपार आश्चर्य हुआ कि मेरे बनारस पहुँचने से पहले ही बुढ़िया के मेरे साथ रहने की बात वहाँ पहुँच गई थी। सिर्फ यह बात ही पहुँची हो, सो भी नहीं, इसके साथ तमाशबीनों ने ऐसी-ऐसी मनगढ़न्त कथाएँ भी नत्थी कर दीं कि मैं सुन कर दङ्ग रह गया। मेरी अवस्था २४-२५ वर्ष की थी और बुढ़िया की कोई ६० से ऊपर। पर इसका कोई विचार न कर हमारे भले-बुरे सम्बन्ध जोड़ने की कुचेष्टाएँ की गईं। मुझे इसी बिना पर नौकरी से हटवाने में भी कोई कसर न छोड़ी गई, पर इसमें सफलता नहीं मिली।

चार दिन बाद लोग हमारी बात भूल गये। कुचक्रियों की बुद्धि ने जवाब दे दिया और हमारी ओर उठाई जाने वाली

उँगलियां घटने लगीं। आज समाज से बहिष्कृत होने पर भी हम सुख और शान्ति से रहते हैं। बुढ़िया में मैंने मां की ममता को दुबारा पा लिया है और उसने मुझमें अपने कलेजे का खोया हुआ टुकड़ा। बुढ़िया के बच्चे साफ-सुथरे भले आदमियों के बच्चों की तरह रहते हैं, पढ़ने जाते हैं। मुझे आशा है वे आने वाले कल के सफल नागरिक बन सकेंगे।

पगली

वे थे सन् सत्तावन के दिन।

लखनऊ का कोना-कोना खून और प्रतिहिंसा से प्रतिध्वनित हो रहा था। चारों ओर 'मारो, काटो और पकड़ो' की ही आवाज़ सुनाई दे रही थी। आम सड़कों पर क़त्ले-आम हो रहा था। नगर में एक अजीब आतङ्क-सा छाया था।

रेज़ीडेन्सी की पुरानी इमारत में कुछ अङ्गरेज़ स्त्रियाँ, बच्चे और सैनिक चारों ओर बाग़ियों से घिरे अपने जीवन की घड़ियाँ गिन रहे थे। उस इमारत में जितनी ईंटे थीं, उनसे चौगुने गोलियों के निशान उन पर बन चुके थे, पर वे टूटने का नाम तक नहीं लेती थीं। इस समय रेज़ीडेन्सी का भीतर का नज़ारा यमलोक से भी अधिक डरावना दिखाई देता था। भय से काँपती हुई स्त्रियाँ अपने बच्चों को छाती से चिपकाये सजल नेत्रों से व्याकुल हिरणी की तरह इधर-उधर देख रही थीं।

पुरुष अपने शस्त्र सँभाल रहे थे और बूढ़े पादरी प्रभु ईसू के नाम का सहारा लेकर सबको ढारस बँधा रहे थे। ज्यों ही किसी गोली के चलने की आवाज़ होती या किधर हो-हल्ला मढ़ता, सब लता की तरह सिहर उठते और जिस दिशा से आवाज़ आई, उधर देखने लगते।

रेज़ीडेन्सी की इस इमारत में जो बड़ा-सा हाल था, वह घायलों की मरहम-पट्टी करने के लिये 'अस्थायी-अस्पताल' के काम में लाया जा रहा था। इस कमरे में लोहे-लकड़ी के कई पलँग और चारपाइयाँ कतार में बिछे थे, जिन पर बाग़ियों के हाथों घायल होने वाले सैनिक लेटे थे। इनकी देख-भाल और सेवा-शुश्रूषा का काम मिस रोज़ को सौंपा गया था। मिस रोज़ एक धनाढ्य अङ्गरेज़ व्यापारी की एकमात्र कन्या थी। इसके पिता को बाग़ियों ने बदला लेने की भावना से मार डाला था, अतः मिस रोज़ ने आकर रेज़ीडेन्सी में शरण ली थी। अपने देशवासियों पर आये इस सङ्कट के समय मिस रोज़ ने स्वेच्छा से घायलों की सेवा-शुश्रूषा का भार अपने ऊपर ले लिया था। इससे सब लोग उससे बहुत प्रसन्न थे।

(२)

दिन में दो बार घायलों की पट्टी बदली जाती थी। मिस रोज़ का सरल और नम्र-स्वभाव तथा हँसमुखपना सब घायलों पर जादू का-सा असर करता था। वह दोनों समय अपनी सहज मुस्कराहट से घायलों का जी चुराती हुई जाकर उनकी

पट्टी बदलती, उनका हाल पूछती, उनसे कुछ हँसी-मसख़री भी करती और उन्हें शीघ्र ठीक हो जाने का दिलासा देकर आगे बढ़ जाती। घायलों द्वारा ग़दर का हाल पूछे जाने पर वह यही कहती कि अब बहुत जल्द हम लोग निरापद होने वाले हैं—बाग़ी लोग हारते जा रहे हैं। कुछ घायल तो उससे ऐसे प्रभावित हुए कि घण्टों पहले से उसके आने की प्रतीक्षा करते रहते थे। उसकी मुस्कराहट मानो सब रोगियों के चेहरों को चमका देती थी और ऐसा मालूम होने लगता था मानों घायलों का वह कमरा हँस रहा है!

पर कमान लो की चारपाई के पास ज्यों ही वह आती, उसकी मुस्कराहट फीकी पड़ जाती और उसके चेहरे पर विषाद की गहरी छाया-सी छा जाती। उसकी आँखों से घृणा और अवज्ञा झलकने लगती और वह पत्थर की मूर्ति की तरह मौन एवं निश्चल हो जाती। कमान लो बनावटी हँसी हँस कर 'गुड मॉर्निङ्ग' या 'गुड आफ्टरनून' कहता, पर वह उसके अभिवादन का कोई उत्तर न देती। जल्दी-जल्दी चुपचाप पट्टी बदलती और चली जाती।

एक दिन जब रोज़ ने कमान लो का तापक्रम लेने के लिये उसके मुँह में थर्मामीटर देना चाहा, तो लो ने मुँह नहीं खोला। रोज़ ने इशारे से बहुत कोशिश की कि उसे बोलना न पड़े और लो मुँह खोल दे, पर लो ने इस ओर कोई ध्यान नहीं दिया। आख़िर रोज़ ने काँपती हुई आवाज़ में चिल्ला कर कहा—"मुँह

क्यों नहीं खोलते ? देखते नहीं मैं तुम्हारा टैंपरेचर लेने को खड़ी हूँ।"

'पर इससे पहले मैं तुमसे कुछ कहना चाहता हूँ।'

'किस सम्बन्ध में ?'

'तुम्हारे सम्बन्ध में !'

'वह क्या ?'

'यही कि तुम मेरे साथ अन्याय और ज्यादती करती हो। सबके साथ तुम हँस कर बोलती हो, उन्हें धीरज बँधाती हो, फिर मैंने ही कौन सा अपराध किया है, जो तुम मेरे पास आते ही पत्थर की बुत बन जाती हो ? आखिर मैं तो जानूँ कि तुम्हारे इस दुर्भाव का कारण क्या है ? तुम्हें याद नहीं रोज़, तुम्हारे पिता ने मुझसे तुम्हारा विवाह करने का वादा किया था ? तुम नही समझतीं मैं तुम्हे कितना प्रेम करता हूँ ?'

इस बार रोज़ चुप न रह सकी। उसका चेहरा क्रोध से तमतमा उठा। फड़कते हुए अपने अधर को दाँतों से दबाकर उसने कहा—'प्रेम ? और शादी ??' तू करेगा मुझसे—कायर और देशद्रोही कहीं का ! तुझ जैसे कायर कुत्ते ने स्वतन्त्र और स्वाभिमानी अङ्गरेज़ जाति में न मालूम क्यों जन्म लिया ? तेरी नसों में अङ्गरेज़ी खून नहीं है—अगर होता तू ज़रा से घाव का बहाना बना कर आज रोगशैय्या पर पड़ा-पड़ा प्रेम और शादी के स्वप्न न देखता। मूर्ख, तुझे शर्म नहीं आती कि आज हमारे देशवासियों पर सङ्कट आया हुआ है और तू कायर की

तरह मुँह छिपाये यहाँ बैठा है? अगर कर्त्तव्य से विवश न होती, तो मैं तेरी सूरत देखना भी पसन्द न करती।'

(२)

रोज़ के चले जाने के बाद कप्तान गम्भीर होकर कुछ सोचने लगा। उसकी आत्मा उसे धिक्कारने लगी। उसे ऐसा जान पड़ा मानो सब उसकी ओर उङ्गली उठाकर कह रहे हैं—'यह कायर है! देशद्रोही है!!' रोज़ के शब्दों ने उसके हृदय पर तीर से भी गहरी चोट की थी, यह उसकी आरक्त आँखों, फूलते हुए नथुनों और रह-रह कर तनने वाली भौहों से स्पष्ट झलकता था।

× × ×

तीसरे पहर जब रोज़ घायलों की पट्टी बदलती-बदलती कप्तान लो की चारपाई की ओर बढ़ी तो क्या देखती है कि लो ग़ायब है। उसकी चारपाई पर तकिया लेटा है और उस पर चादर ओढ़ाई हुई है—मानो ख़ुद लो ही सो रहा हो। आस-पास के घायलों से पूछने पर भी पता नहीं चला कि वह कब और कहाँ गया? रोज़ ने इस ओर विशेष ध्यान नहीं दिया और अपने काम में लग गई।

रात का भोजन समाप्त होने पर सेनापति ने कहा—'मुझे आपको आज सोने जाने से पहले एक दुःखद समाचार सुनाना है। आज रेज़ीडेन्सी की रक्षा करते हुए कप्तान हिल, मैकेंज़ी

और लो तथा ३१ सैनिक मारे गये हैं। आइये, सोने जाने से पूर्व हम उनकी आत्मा की शान्ति के लिये प्रार्थना करें !'

सब ने मिल कर दिवंगत आत्माओं के लिये प्रार्थना की। प्रार्थना करने वालों में मिस रोज़ भी थी, जो एक दीवाल के सहारे अर्ध-मूर्च्छितावस्था में खड़ी-खड़ी आँसू बहा रही थी। उसे मानो लो से दिन में कहे हुए कठोर शब्दों के लिये पश्चात्ताप हो रहा था। पर उस ओर किसी का ध्यान नहीं गया।

(४)

रात आधी से अधिक बीत चुकी थी। चाँदनी फीकी पड़ती जा रही थी। दिन भर का कोलाहल मानो थक कर उसकी शुभ्र गोद में सो गया था। एक अजीब निस्तब्धता-सी छाई थी। सब कानाफूसी-सी कर रहे थे। ज़ोर से बोलने में गोली का शिकार होने का डर था।

जब सब क़ब्रें खुद चुकीं, तो पादरी ने प्रार्थना आरम्भ की और एक-एक कर लाशों को दफ़नाया जाने लगा। ज्यों ही कप्तान लो की लाश दफ़नाने के लिये उठाई जाने लगी, रुमाल से अपने आँसू पोंछती हुई रोज़ आगे बढ़ी और रोती हुई पादरी से बोली—'पिता, जरा रुक जाईये। मेरी एक प्रार्थना है, जो आपको स्वीकार करनी होगी।'

बूढ़े पादरी ने दया और सान्त्वना के स्वर में कहा—'बेटी रोज़'—और उसके सिर पर हाथ फेरने लगा। रोज़ को फफक-

फफक कर रोता देख पादरी की आँखें भी सूखी न रह सकीं। उसने काँपती हुई आवाज़ में कहा—'बेटी, मैं जानता हूँ, तू लो को कितना प्यार करती थी। यदि जीवित रहता, तो वह निश्चय ही तेरा पति होता। पर अब तो जो विधाता को मंजूर है, वही होगा। अपना जी कड़ा कर और धैर्य धारण कर, बेटी! देख रात बीतने को है, अगर इसके दफ़नाने में विलम्ब हुआ तो फिर हम बारियों की गोलियों का निशाना बन जायँगे। देख न, अभी कितनी लाशें दफ़नाने को पड़ी हैं ?'

'आप इसे दफ़ना तो रहे ही हैं, दफ़ना दें, मैं कब रोकती हूँ'—रोज़ ने बिलखते हुए कहा—'पर इसे दफ़नाने से पहले मेरी एक प्रार्थना स्वीकार कीजिये—वह मेरी प्रथम और अन्तिम प्रार्थना होगी।'

पादरी आश्चर्य और उत्सुकता से आँखें फाड़-फाड़ कर रोज़ की ओर देखने लगा। उसने पूछा—'क्या है वह प्रार्थना, बेटी ?'

"आप जानते हैं मेरे स्वर्गीय पिता ने लो को मेरे पाणिग्रहण का पात्र चुना था। वे वादा भी कर चुके थे। उनकी अन्तिम इच्छा थी कि लो से ही मेरा विवाह हो। मैं नहीं चाहती कि अपने स्वर्गीय पिता की अन्तिम इच्छा भी पूरी न हो। लो स्वयं मुझे चाहता था, मैं भी उसे चाहती थी और शायद ईश्वर भी इस सम्बन्ध के पक्ष मे था। पिता जी न रहे तो क्या, धर्म-पिता की हैसियत से आप ही इससे मेरा विवाह करा दीजिये। फिर आप लाश को सहर्ष दफ़ना सकते हैं।'

फीकी चाँदनी में चमकती हुई बूढ़े पादरी की सजल आँखों से सहसा हँसी फूट निकली। उसने रोज़ के आँसू पोंछते हुए कहा—'बेटी, यह पगलेपन की बातें छोड़, देख हमें देर हो रही है।'

'आप इसे पागलपन कहते हैं?' रोज़ ने अपनी उमड़ती हुई आँखों को पादरी की आँखों में गड़ाते हुए पूछा—'तो क्या विशुद्ध प्रेम को आप पागलपन समझते हैं? पिता जी की, मेरी और लो की इच्छा पूरी होगी, यह सब पागलपन ही है? हम सब पागल ही हैं क्या? यह आप क्या कह रहे हैं, पिता?'

'बेटी, क्षमा कर। मेरा अभिप्राय तेरा दिल दुखाना नहीं था। मैं यह कहता हूँ कि अब तो लो मर चुका है, अब उससे शादी करना क्या मानी रखता है?'

'मानी कैसे नहीं रखता?' रोज़ ने तमक कर कहा—"आपके लिये न रखता होगा, मेरे लिये तो रखता है। लो और मेरे पिता के लिये तो रखता है। आपकी नज़रों में लो मर गया, पर मेरे सामने वह अभी भी मौजूद है। मेरे लिये वह सदा अमर रहेगा। आपको उससे मेरा विवाह करना ही होगा—अन्यथा मेरे जीते जी उसकी लाश को आप दफ़ना नहीं पायेंगे।'

× × ×

वहाँ उपस्थित सभी लोगों ने रोज़ को समझाया, पर वह न मानी। बूढ़े पादरी को आख़िर उसके सत्याग्रह के सामने झुकना ही पड़ा। उसने सजल नेत्रों से चारपाई पर पड़े हुए लो

का पत्थर-सा कड़ा और निर्जीव हाथ रोज़ के हाथ में थमा दिया और प्रार्थना करने लगा। लो की ओर से वाक्दान बूढ़े पादरी ने ही दिया। रोज़ के फड़कते हुए ठण्डे होठों ने लो के निर्जीव हाथ पर प्रेम और जीवन की मोहर लगा दी। दो गरम-गरम आँसू लो के हाथ पर छोड़ कर रोज़ पीछे हट गई। पादरी ने स्नेह और सान्त्वनापूर्वक उसे अपनी छाती से लगाते हुए कहा—'पगली कहीं की!'

दूसरे दिन से मिस रोज़ मिसेज लो कहलाने लगी।

सन्तान की चाह

वे संसार के सब से सुखी दम्पति थे। सुख की मस्तानी घड़ियों में पला हुआ उनका जीवन; बे-फ़िक्री, आमोद-प्रमोद और अनियन्त्रित स्वच्छन्दता में बढ़ा हुआ उनका अल्हड़ यौवन मानो संसार भर की मादकता और मस्ती को चुनौती दे रहा था। उन्होंने जाना था केवल सुख, आनन्द और अल्हड़पन।

वीणा और माधव दोनों एक ही शाला में पढ़ते थे। रहते भी दोनों पास ही पास थे। माधव अपने जीवन के सुनहले स्वप्नों का ताना-बाना बुनने मे मस्त था और वीणा मानो अनायास युवावस्था में पाँव रख रही थी। दोनों अब तक सहपाठी थे, पर एक दिन चार आँखें हुई और उनकी मैत्री ने प्रेम का चोला पहन लिया। फिर जवानी का प्रेम तो अन्धा हुआ ही करता है। दोनों इतने आगे बढ़ गये थे कि लौटना असम्भव था और इसी रूप में अधिक आगे बढ़ना दुनियाँ की नजरों में उचित नहीं था।

अतः इच्छा न होते हुए भी दुनियाँ की नजरों में दोनों विवाह-बन्धन में बँध गये। उनके जीवन, जवानी और प्रेम की उमड़ती हुई मस्ती ने न मालूम कितने स्त्री-पुरुषों को आश्चर्य चकित कर दिया था। सब यही कहते थे कि यह संसार के सब से सुखी दम्पति हैं।

पृथ्वी ने अचला होकर न मालूम कितनी बार उनकी प्रेम-लीलाएँ देखी थीं। सूर्य और चन्द्रमा ने स्थिर होकर न जाने कितनी बार उनका प्रेम-सङ्गीत सुना था। न मालूम कितने दिनों और रातों ने व्याकुल होकर उनकी छाया छोड़ी थी। न मालूम कितनी बार अनन्त आकाश ने मौन होकर इन दो पागल प्रेमियों को अपनी चादर उढ़ाई होगी। न मालूम कितनी बार मेघ इनसे मस्ती माँगने आये होंगे। कोयल ने कूक-कूक कर इनके प्राणों में अद्भुत सङ्गीत भरा, भौंरों ने रसिकता, लताओं ने आत्म-समर्पण और विद्युत ने नस-नस को फड़का देने वाली—रोम-रोम को जगा देने वाली बिजली!

उस दिन बड़ा सुहावना समय था। रिम-झिम बूँदें बरस रही थीं। आकाश में मेघ दौड़ रहे थे। माधव ने वीणा के हाथ से दिलरुबा छीनते हुए कहा—'इसे अब विश्राम करने दो। वीणे! देखो कितना सुहावना समय है। चलो किसी बाग में घूमने चलें। वहाँ चल कर तुम अपनी वीणा बजाना।'

'जी हाँ, जैसी श्रीमान् की आज्ञा' वीणा ने आँखें मटका कर कुछ मुस्कराते हुए कहा—'आप तो अब मदारी की बँदरिया

की तरह मुझे नचाने लगे। कभी कहते हैं हार्मोनियम नहीं दिलरुबा बजाओ। कभी हुक्म होता है, दिलरुबा नहीं, बाग़ में चल कर वीणा बजाओ।' वीणा दौड़ कर माधव के गले से लिपट गई और मुँह पर बनावटी भय का भाव लाते हुए बोली—'नहीं, ऐसे समय में घूमने नहीं चलूँगी। इन काले-काले बादलों को दौड़ता देख कर मुझे डर लगता है। बिजली के कौंधने पर तो मैं ऐसी चमकती हूँ कि जी होता है कि छोटी होकर तुम्हारे हृदय में छुप जाऊँ।'

वीणा के गाल पर धीरे से एक चपत लगा कर माधव ने कहा—'अच्छा, अब तो तुम भी कविता करने लगीं? भला इन बादलों और बिजली से तुम्हें क्यों डर लगता है? इन बेचारों की क्या मजाल जो तिरछी चितवन और भ्रू-चाप के होते हुए तुम्हें छू भी सकें। वे तो ख़ुद तुमसे डरते हैं।'

'जी हाँ, क्यों नहीं, आप जब साक्षी हैं। बेवकूफ़ बनाने का यह ढङ्ग बड़ा 'डीसेंट' और 'आर्टिस्टिक' है। आखिर हैं तो आप वही नटखट न जो मेरी किताबें छीन कर नाली में डाल देते थे और अम्माँ से जाकर कह देते थे कि वह पढ़ना नहीं चाहती!'

'तुम्हे तो बड़ी-बड़ी पुरानी बातें याद हैं। अब यह बताओ कि घूमने चलती हो या नहीं?' माधव ने कहा।

'चलूँगी क्यों नहीं, ज़रूर चलूँगी, नहीं चलूँगी, हाँ-हाँ ज़रूर चलूँगी, हर्गिज़ नहीं चलूँगी।'—कहती हुई वीणा अपने कमरे

की ओर भाग गई और फिर दिलरुबा उठाकर बजाने लगी, माधव ने दौड़ कर दिलरुबा छीन लिया और कमरे में मानो हँसी का फुहारा-सा छूट पड़ा—हा-हा, टी-टी—हू-हू......!

(२)

आज हँसी, मज़ाक और व्यंग के स्थान पर वीणा के मुँह से सर्द आहें निकलती हैं। मानो वह अपने आपसे कह रही हो 'वे दिन हवा हुए जब पसीना गुलाब था।' वह समझ ही नहीं पाती थी कि इन आठ वर्षों में उसके जीवन में यह परिवर्त्तन कैसे हो गया। जवानी की मस्ती और अल्हड़पना अपनी एक दुःखद याद छोड़ कर आगे बढ़ चुके थे। प्रेम के उन उच्छृङ्खल दिनों की याद ख़ुमार बन कर आँखों और आहों में घुल रही थी। कभी-कभी तो वह उन दिनों की याद कर सिहर उठती थी। यह क्या हो गया? वे सुनहली रातें और मधुमय घड़ियाँ कहाँ विलीन हो गईं? जो माधव सदा छाया की भाँति उसके पीछे दौड़ा करता था, वह आज सीधे मुँह बात भी नहीं करता। जिस वीणा ने उसके नीरस और शून्य जीवन में सुख और स्फूर्त्ति का अजस्र स्रोत बहा दिया था, आज उसी को वह जीवन का भार क्यों समझने लगा?

अब वीणा के जीवन का एक-एक दिन युग की भाँति कट रहा था। पति और सास के ताने और गालियाँ सुनते-सुनते जब वह ऊब उठती, तो एकान्त में बैठ कर अपने जीवन के उन सुनहले दिनों की याद को ताज़ा कर जी बहलाने का यत्न

करती। घर के काम-काज से जब कभी उसे फ़ुर्सत मिलती वह अपने भूत और वर्तमान काल की तुलना करती और सोचती कि प्रेम में अन्धा हो जाने वाला पुरुष इतना जल्दी विवेक-शून्य और दुनियावी क्यों बन जाता है ? वीणा चूल्हे के पास बैठी-बैठी इन्हीं बातों को सोच रही थी कि अनायास उसे झपकी आगई।

अपनी रिस्टवाच देखते हुए माधव रसोई की ओर चला। १० बजने में सिर्फ़ १३ मिनट बाक़ी थे। उसे ठीक १० बजे दफ़्तर में पहुँचना था। पर रसोई में पहुँच कर जब उसने देखा कि चूल्हा बुझा पड़ा है और उस पर रक्खी हुई पतीली में दाल जल कर पेंदे से लग गई है, तो उसके क्रोध का वारापार न रहा। वीणा का कन्धा पकड़कर झकझोरते हुए उसने कहा—'अरी ओ मनहूस, यह कोई सोने की जगह है ? देख दाल सारी जल गई और रोटी का अभी पता भी नहीं। मैं क्या तेरा सिर खाकर दफ़्तर जाऊँ ?'

'दाल जल गई ? हैं !' कहती हुई वीणा हकबका कर जग उठी। अपने पति को क्रोध से काँपते हुए देख कर बड़ी नम्रता से उसने कहा—'क्षमा कीजिये, आज बड़ी ग़लती हुई। आप बैठक में चलिये, मैं ५ मिनट में रोटी तैयार किये देती हूँ।'

'अब क्या अपना सिर तैयार करेगी, १० तो बज रहे हैं। क्या करूँ मैं तो तुझ निपूती रांड का मुँह भी नहीं देखना चाहता, पर क्या करूँ माँ नहीं मानती। पर अब जो कुछ भी हो, मैं

दूसरा विवाह जरूर करूँगा और तुझे इस मक्कारी का मजा चखाऊँगा।'

वीणा की त्यौरी भी चढ़ गई। उसने सधे हुए स्वर में कहा—'आप विवाह एक नहीं बीस कर लें, पर मुझे ईश्वर के लिये राँड न कहें। मुझे आप सौ गाली दे लें, निपूती, बाँझ, चुड़ैल, डायन और जो चाहें कह लें, पर ईश्वर के लिये राँड न कहें।' वीणा सिसक-सिसक कर रोने लगी। माधव बड़बड़ाता हुआ बाहर चला गया।

शोर-गुल सुनकर माधव की माँ नीचे आ गई और वीणा की ओर क्रोध से घूरते हुए बोली—'बहू, तेरे यह लच्छन मुझे पसन्द नहीं। तू रोज़-रोज़ उसके खाने के बाबत यों ही कलह करती है। न कोई दूध, न पूत, न औरत के गुण, बस जब देखो! तब लड़ाई को तैयार। तू हमें घर में रहने भी देगी या नहीं।'

वीणा कुछ न बोली।

(२)

पण्डित माधवप्रसाद तिवारी के दूसरे विवाह की ख़बर बिजली की तरह सारे शहर में फैल गई। कुछ ने पहली पत्नी के जीवित होते हुए भी दूसरा विवाह करने के कारण माधव की निन्दा की। पर बड़ों-बूढ़ों ने इस पर पहली से सन्तान के न होने का कारण बता कर औचित्य की मोहर लगा दी।

दुनियाँ बड़ी चुहलबाज़ है। उसे अपने मनोरञ्जन के लिये नित्य नया लतीफ़ा चाहिये। एक दिन उसने माधव के दूसरे विवाह की 'ख़ुशी' भी देख ली—फिर बस।

माधव की माँ नई बहू की सेवा-टहल में ही अपना सारा समय लगाने लगी। बात यह बिल्कुल उल्टी थी, पर माधव और उसकी माँ अपनी सन्तान की महत्वाकांक्षा को पूर्ण देखना चाहते थे। नई बहू को वे इसके लिये ईश्वर का वरदान समझने लगे। माधव की माँ को सदा यह डर रहता था कि वीणा इस नई बहू पर भी कोई ऐसा टोना-टोटका न कर दे कि जिससे वह भी निपूती रह जाय। इसीलिये वह सदा उसके पास ही रहती और यथा सम्भव उसे वीणा से बहुत कम बोलने-बतलाने देती।

पर वीणा अब अधिक समझदार हो चुकी थी। वह इससे तनिक भी बुरा न मानती और जान-बूझ कर नई बहू से दूर रहती। पर नई बहू को यह बात खलने लगी। उसने स्वयं वीणा से मित्रता कर ली और कहा कि हम-तुम दो बहनों या सहेलियों की तरह रहा करेंगी। मैं तुम्हें वीणा कहूँगी और तुम मुझे रेखा कहा करना। कहाँ तो पहले इन दोनों में कई-कई दिनों में एक बार बात होती थी और अब दाँत-काटी रोटी हो गई। दोनों के लिये एक क्षण भी एक दूसरे से पृथक रहना कठिन हो गया। माधव और उसकी माँ ने पहले तो बड़ी कोशिश की कि यह असत्-सन्धि भङ्ग हो जाय, पर जब रेखा किसी भी तरह

न मानी तो वे चुप हो रहे—क्योंकि वे रेखा को किसी दशा में अप्रसन्न नहीं करना चाहते थे।

एक दिन हँसी-हँसी में रेखा वीणा से पूछ बैठी—'जीजी, भला यह तो बतलाओ कि तुम जैसी रूप और गुणवान देवी को पाकर भी इन्होंने (माधव ने) दूसरा विवाह क्यों किया ?'

वीणा ने अपने अन्तस के उठते हुए तूफान को बरबस दबाते हुए मुस्कराकर कहा—'यह पागलपन की बातें न किया करो। भला पुरुष इन्द्र या किसी सम्राट से अपने आपको कब कम समझता है ? अपने जी-बहलाव के लिये यदि वह दो-चार विवाह कर ले तो कौन बड़ी बात है ?'

'बुरी बात तो नहीं है जीजी' रेखा ने त्यौरी चढ़ाते हुए कहा—'पर हम-तुम जैसी निर्दोष और निरीह अबलाएँ इस क्रूर और कामी पुरुष के हाथ का खिलौना क्यों बनें ? उसकी लंपटता और शरारत की वेदी पर हम अपनी तरुणी मानवता का बलिदान क्यों दें ? यह सरासर पाप है, अन्याय है, अत्याचार और अनाचार है।'

वीणा ने एक खोजपूर्ण दृष्टि रेखा की डबडबाई आँखों और फड़कते हुए ओंठों पर डाली और दूसरे ही क्षण उसके गले से लिपट कर रोने लगी। रोते ही रोते वीणा ने कहा—

'रेखा बहन, मैं नहीं समझती थी कि तुम इतनी समझदार हो। आज पता लगा कि जो आग अब तक मुझे जला रही

थी, वह तुम्हारे हृदय तक भी जा पहुँची है। चलो अब मुझे यह तो सन्तोष होगा कि इस आग में जल कर मैं अकेली ही नहीं मरूँगी, मेरे साथ तुम भी मरने वाली हो गईं।'

'छिः यह तुम क्या मरने-मराने की बातें करने लगीं। जीवन की ठोकरें खाकर मौत का आवाहन करना कायरता है।' रेखा ने सहम कर कहा—'मरना तो एक दिन सभी को है, पर जीवन के कर्त्तव्य-कर्म से मुँह चुरा कर मौत की खाई में छलाँग मारना निरी अमानुषिकता और अधर्म है। जीजी, हम तुमको भी जीने का उतना ही अधिकार है, जितना और किसी को। फिर हम-तुम अपने इस अधिकार की हत्या क्यों होने दें? क्यों न हम अपने इस अधिकार का सदुपयोग करें।

'यह तुम क्या कह रही हो, बहन?' वीणा ने किञ्चित् आश्चर्य से कहा—'जीने का अधिकार और यह नारकीय जीवन?'

'पर इसे नारकीय बनाने की जिम्मेदार भी तो हमीं हैं। यह हमारी ही कमजोरी और कायरता का फल है कि आज माधव जैसे कापुरुषों ने हमारा जीना हराम कर रक्खा है।'

'पर बहन अब तो मृत्यु के अलावा इससे छुटकारा पाने का और कोई उपाय नह ।'

'फिर वही मृत्यु? जीजी, मैं जो कह रही हूँ कि जीवन की कठिनाईयों का हल मृत्यु से नहीं हो सकता है। हम-तुम

मर कर या आत्म-हत्या कर अपना पिण्ड छुड़ा लेंगी, पर न मालूम हमारी-तुम्हारी तरह और कितनी बहनें इस नारकीय जीवन की यातनाओं से तड़प रही होंगी ? उनका उद्धार हम दो के मरने से थोड़े ही हो जायगा।'

'तो क्या ऐसा कोई उपाय हो सकता है ?'

'हो क्यों नहीं सकता ; तुम बहुत जल्द सुनोगी कि मैं क्या करती हूँ। पर इतनी कृपा करना कि अभी किसी से इसका जिक्र न करना। कहीं ऐसा न हो कि हमारी मन की मन ही में रह जाय।'

वीणा ने सिर हिला कर स्वीकृति दे दी और फिर रेखा के गले से लिपट गई।

[४]

श्रीमती रेखादेवी और वीणापाणि के मुक़दमे की ख़बर न सिर्फ उस नगर में बल्कि देश भर में फैल गई। उन्होंने अदालत में अपने पति पं० माधव प्रसाद तिवारी को तलाक़ देने की अर्जी दी थी और कारण लिखा था नपुंसकता और दुर्व्यवहार ! जिसने यह ख़बर सुनी वह दाँतों तले उँगली दबाने लगा। देश में यह अपनी तरह का पहला मुक़दमा था। भारतीय संस्कृति की विडम्बना और धर्म की बुद्धिनाशक छाया में पली हिन्दू स्त्री—जिसे बचपन से ही पति को ईश्वर मानने का पाठ पढ़ाया गया हो—यथार्थता के नाम पर इतना साहस कर सकेगी, इसकी किसी को कल्पना तक नहीं थी !

माधव का हाल तो इतना बुरा था कि कुछ कहा ही नहीं जा सकता। जिस दिन उसे अपनी पत्नियों के मुक़दमे का पता लगा, उसका आधा खून सूख गया। जिस दिन अदालत में उपस्थित होने के समन उस पर तामील किये गये, उस दिन तो मानों उसके पाँवों तले से ज़मीन ही खिसक गई। उसे कभी स्वप्न में भी आशा नहीं थी कि रेखा और वीणा इतनी दुःसाहसिक और कठोर साबित होंगी। मन ही मन अब वह बड़ा लज्जित और ग्लानि-गलित हो रहा था, पर अब हो ही क्या सकता था?

× × ×

अदालत में उस दिन इतनी भीड़ थी कि कहीं तिल रखने को भी जगह नहीं थी। इस्तग़ासे की ओर से केवल एक सिविल सर्जन गवाह था, जिसने माधव की डाक्टरी परीक्षा की थी और उसे नपुंसक पाया था। माधव की ओर से कोई गवाह नहीं था, न कोई वकील ही था। जाति के सरपञ्चों ने शक्ति भर समझौता कराने की कोशिश की, पर रेखा और वीणा न मानीं। वे कहती थीं कि हम इसे तलाक़ तो देंगी ही, पर साथ ही इस अधर्म के लिये इसे पर्याप्त सज़ा भी दिलवायँगी। हिन्दू-धर्म-शास्त्रों में भी नपुंसक, कोढ़ी और निर्धन आदि के लिये विवाह निषिद्ध है। फिर इसने तो एक नहीं दो विवाह किये—अपनी शान के लिये, अपनी कमज़ोरी छुपाने के लिये और सन्तान का मुँह देखने के लिये! जब तक इसे इस बेहयाई

और अमानुषिकता का पर्याप्त दण्ड न मिलेगा, न मालूम कितनी कुमारियों का जीवन ऐसे लम्पटों द्वारा बरबाद होता रहेगा ? हम भले ही बदनाम हो जावें, हमारे कुल और वंश पर भले ही दुनियाँ थूके, पर जो हाल हमारा हुआ है, वह अन्य बहनों का तो न हो। पुरुष यह तो समझ जायगा कि उसकी नपुंसकता का नाम स्त्री का बाँझपन नहीं है। ढोंग और मक्कारी का यह पुतला इतना तो समझ जायगा कि स्त्रीत्व इतनी सस्ती चीज़ नहीं है कि उसका मनमाना दुरुपयोग किया जाय। मातृत्व इतनी नगण्य वस्तु नहीं है कि उसे जो चाहे जूँठा करके ठुकरा दे। स्त्री वह खिलौना नहीं है जिसे आदर्श और धर्म के पालन की दुहाई देकर ज़िन्दा आग की भट्ठी में फेंक दिया जाय। इस मुक़द्‌मे से हमारा एकमात्र उद्देश्य यही है कि अपने आपको न समझने वाला पुरुष स्त्री को समझने की कोशिश करे।

अदालत का समय हो चुका था, पर माधव का कोई पता नहीं था। सब से पहले उसी के मामले की सुनवाई होने वाली थी, पर वह पहुँचा नहीं था। जब बहुत देर हो गई, तो उसे लाने के लिये आदमी भेजे गये। जब आदमी माधव के घर पहुँचे और उसे आवाजें दीं तो कोई उत्तर नहीं मिला। घर का दरवाजा भीतर से बन्द था। आख़िर दरवाजा तोड़ कर आदमी भीतर घुसे। देखा, सहन में लगे नीम से एक मोटी रस्सी के साथ माधव की लाश लटक रही है ! उसकी माँ घर में नहीं थी।

प्रारब्ध

ईश्वर और धर्म के प्रति उसकी तनिक भी आस्था नहीं थी। देवी-देवताओं, पीर-पैग़म्बरों और मन्दिर-मठों की उपादेयता में भी वह विश्वास नहीं करता था। शकुन और अपशकुन उसके उठे हुए हाथों को और किसी कार्य को करने के लिये चल पड़ने वाले पाँवों को रोक नहीं सकते थे। उसके जीवन का मूल मन्त्र था—'अहं ब्रह्मास्मि!' वह मनुष्य को मनुष्य का भाई बड़े आदर और प्रेम से मान सकता था—मानता भी था—पर मनुष्य, मनुष्य का शासक है, मालिक है और खून पी जाने वाला शत्रु है, यह उसे कभी भी स्वीकार न था।

इतना होते हुये भी एक बात, एक शङ्का, सदा उसके मस्तिष्क को भारी बनाये रहती थी—उसके चित्त को विचलित किया करती थी—और वह यह थी कि नियति की गोद में कोई ऐसी विचित्र शक्ति अवश्य छिपी हुई है, जो मनुष्य के सारे अरमानों

पर, सारी आशाओं पर, सारे मन्सूबों पर पानी फेर देती है। उसकी सारी योजनाएँ मिट्टी में मिला देती है। अनन्त अम्बर की ओर दौड़ते हुए मनुष्य को नीचे, पतन के पाताल की ओर खींच ले जाती है। और यह सब उस दशा में, जब कि वह अपनी अन्तरात्मा की पुकार सुनकर चला जा रहा हो, सत्य और औचित्य की लीक पर चल रहा हो; चोरी, डाका या बदमाशी न कर रहा हो! यह पिशाचिनी-शक्ति आखिर है क्या? यह किस यमराज का गुप्त आसुरी-हाथ है जो शुभ को अशुभ और भले को बुरा बना देता है? ऊपर से मनुष्य को ऐसा नीचे गिराता है कि फिर वह कभी सिर भी न उठा सके। यह रहस्य आखिर है क्या? बहुत दिन तक वह इस गुत्थी को सुलझाने का प्रयत्न करता रहा, पर सुलझा न सका। कोई आस्तिक होता तो यह कह कर सन्तोष कर लेता कि वह सब उस सर्वशक्तिमान परमात्मा की लीला है! पर वह अपने आपको यह कह कर धोखा नहीं दे सकता था। बहुत सोच-विचार के बाद वह अपने आपको अनबूझ-पहेलियों के एक ऐसे विकट भँवर में पाता था कि जहाँ विचार, विवेक, विज्ञान और तर्क उसका साथ छोड़ देते और हताश होकर वह कल्पना के चटियल पठारों से टकराता, गिरता-पड़ता, फिर वह अपने पूर्व स्थान पर आ जाता। अस्तु—

स्वभाव से वह बड़ा चिड़चिड़ा और तामसी प्रकृति का था। वह चाहता था कि वह बोले कम और सोचे अधिक और संसार से दूर रहे। कभी-कभी तो लोगों की नमस्ते का उत्तर देना भी

पहाड़ हो जाता था। वह चाहता था कि लोग उससे कम मिलें, कम बोलें, न उससे संसार की प्रगति के सम्बन्ध में कुछ पूछें, न स्वास्थ्य और शिक्षा पर ही उसे कुछ उपदेश दें। वह चाहता केवल यह था कि अपना मार्ग, अपने आदर्श और उन्हें प्राप्त करने के उपकरणों का निश्चय वह स्वयं करे और लोग उसे अपने निर्दिष्ट पथ पर अबाध रूप से चलने दें। समष्टि की अपेक्षा वह व्यष्टि की स्वतन्त्रता को अधिक महत्व देता था। खाने-पहनने में भी वह किसी लोक नियम की परवाह नहीं करता था। इसी लिए लोग उसे खब्ती और सनकी कहते थे।

हुगली जिले के तेलनीपाड़ा ग्राम में उसका घर था—वह भी कच्चा और घास-फूस का। वर्षा में चौपाल और रसोई में कीचड़ हो जाता, सर्दी में दीवाल के छिद्रों से ठण्डी हवा आती और गर्मी में धूप और लू बड़ी स्वच्छन्दता से उसके अस्त-व्यस्त घर से ठठोली किया करती थीं। परिजनों में केवल उसे जन्म देने वाली माँ थी। पिसाई, सिलाई और रसोई बनाकर वह कुछ पैसे कमाती और दोनों उसी पर निर्वाह करते। माँ-बेटे में खुलकर बातें बहुत कम होती थीं। वह दिन भर अपनी मजदूरी में लगी रहती और यह हजरत अवारागर्दी, सैर-सपाटे और कुछ नाम मात्र की पढ़ाई में। माँ ने उसे बहुत कुछ समझाया कि अमुक जगह एक नौकरी है, चल, तो लगवा दूँ। पर वह हमेशा यह कह कर टाल देता कि—'मुझसे गुलामी न होगी। मैं मजदूरी कर सकता हूँ, पर चाकरी नहीं।'

[२]

दो प्राणियों के उस ग़रीब घर में यह बेकारी की हुकूमत भला कब तक चल सकती थी? एक रोज़ विभूतिभूषण की माँ को ज्वर आया। दवा दी, पर वह घटने की अपेक्षा बढ़ता गया। एक, दो, चार, छः दिन करते-करते पूरे दो महीने हो गये, पर उसकी दशा सुधरी नहीं। अपनी मज़दूरी में से उसने एक-एक पैसा जोड़ कर जो कुछ जमा कर रक्खा था, वह सब दवा-दारू और अब तक के खाने-पीने में ख़र्च हो गया। अब पैसे की बड़ी ज़रूरत महसूस हुई। आख़िर माँ ने बड़े प्रेम से विभूति को अपने पास बुलाकर कहा—'बेटा, तुम जैसा हट्टा-कट्टा पुत्र-रत्न पाकर भी मैं पैसे-पैसे के लिये तरसूँ, यह मुझसे कैसे देखा और सहा जा सकता है? न मालूम किन-किन आशाओं को लेकर मैंने तुझे पाला था? सोच तो सही, आज उन्हें फलवती होते देख क्या मेरा कलेजा प्रसन्नता और संतोष से ठंडा न होता? तेरे पिता को वैकुंठ गये आज ७-७॥ वर्ष होते हैं। तब से मैंने जैसा कुछ मुझसे बन पड़ा, किया। इज्ज़त से दो पैसे कमाए और तेरा-मेरा पेट भरा। अब इधर एक तो बुढ़ापा है और फिर बीमारी ने मुझे चलने-फिरने से भी वंचित कर दिया, भला अब तू ही बता कि काम कैसे चलेगा?'

आज पहली बार विभूति ने उदासी से गँठ-बंधन किया। थोड़ी देर सोचने के बाद विभूति ने कहा—'माँ, तुम चिंता मत करो, मैं सब कुछ कर लूंगा।'

थोड़ी देर बाद फीकी-सी हँसी हँसकर विभूति की मां ने कहा—'तू तो भगवान् को भी नहीं मानता, नहीं तो शायद उनकी उपासना-आराधना से ही कुछ कल्याण होता।'

'कल्याण ? कल्याण में अब भी कुछ कोर-कसर है क्या, मां ?'—विभूति ने दाँत पीसते हुए कहा—'पेंतीस करोड़ देशवासी गुलाम हैं। इने-गिने लोग गुल-छर्रे उड़ायें और लाखों भूखों मरें—अब भी नहीं हुआ क्या कल्याण ? कहाँ हैं तुम्हारे वे भगवान् ? यदि सचमुच भगवान् का कोई अस्तित्व होता, तो परिश्रम से थक जाने वाले और छाले पड़ जाने वाले तुम्हारे यह दुर्बल हाथ आज ख़ाली होकर आकाश की ओर न उठते। तुम्हारे स्वर में इतनी दीनता न होती। तुम्हारे हृदय में रोटी और पैसे की इतनी बेचैनी न होती। फिर कहती हो भगवान्......कल्याण......!'

विभूति का रौद्र-रूप देखकर उसकी माँ चुप रह गई।

[२]

कलकत्ते पहुँचने के बाद विभूति प्रति सप्ताह अपनी माँ को पत्र लिखता। जब-तब कुछ रुपया भी भेजता और विलंब हो जाने पर कुछ न कुछ ऐसा बहाना बनाकर क्षमा माँग लेता कि उसकी माँ को बुरा न लगे। माँ को बेटे की जुदाई खलती अवश्य थी, पर यह जान कर वह संतोष कर लेती थी कि वह बाकार है है और अपने खाने-पीने का ख़र्च निकाल लेता है।

कलकत्ते में विभूति रिपन-कॉलेज में पढ़ने लगा और खाली वक़्त में ट्यूशन करके अपने खर्च लायक कमा लेता। वह असेंबली के सुप्रसिद्ध सदस्य बाबू शैलेन्द्रनाथ मित्र के लड़के को भी पढ़ाता था और उनसे उसे ट्यूशन के अलावा सिफ़ारिशों के रूप में काफी सहायता मिल जाती थी। शैलबाबू कलकत्ते के एक प्रतिष्ठित नागरिक और सुसम्पन्न जमींदार थे। पीढ़ियों से चली आई प्रतिष्ठा और सामाजिक-गौरव के साथ ही साथ अपनी योग्यता एवं लोकप्रियता के कारण शैलबाबू कई वर्षों से धारा-सभा के सदस्य चुने जा रहे थे। इससे उनके नाम और प्रतिष्ठा में और चार चाँद लग गये थे।

शैलबाबू के यहाँ विभूति ने ट्यूशन तो कर ली, पर न मालूम क्यों उसका हृदय उसे धिक्कार सा रहा था। वह शैलबाबू को बड़ा प्रतिष्ठित, धनी और सब कुछ मानने को तैयार था—पर एक बात ने शैलबाबू की ओर से विभूति के मस्तिष्क में विद्रोह सा खड़ा कर दिया, और वह था उनका टोडीपन, देश-द्रोह! न मालूम कितने देशवासियों के रक्त से शैलबाबू ने अपने हाथ रँगे थे। कितने ग़रीबों के मुँह की रोटी छीन कर वे मोटर-बग्घी रखने वाले लक्षाधीश बने थे। यह मान और प्रतिष्ठा उन्हें परिश्रम, अध्यवसाय या योग्यता से नहीं मिले थे—बल्कि अपने ही अभागे देशवासियों की गर्दन पर छुरी चलाने से! ऐसे व्यक्ति का उपकार और धन लेना भला विभूति जैसे स्वाभिमानी और क्रान्तिकारी युवक के लिये कब स्वीकार था? पर जीवन-संग्राम

में मनुष्य को जो न करना पड़े, वही थोड़ा है। अन्य कोई विकल्प न देख कायर की भाँति विभूति शैलबाबू के आश्रय की टहनी को पकड़े रहा—मानो डूबते हुए को यही एक सहारा था !

अकस्मात् विभूति के जीवन में दो नई घटनाएँ घटीं। उसे समाचार मिला कि उसकी प्यारी माँ अब इस संसार में नहीं है। माँ का संसार में रहना या न रहना विभूति के लिये कोई विशेष महत्व या आकर्षण की बात नहीं थी। जो कुछ भी हो, वह रोया नहीं। उसे कुछ विशेष दुःख भी नहीं हुआ। हाँ, अब उसे अपने जीवन में कुछ अभाव सा जरूर खटकने लगा। माँ से वह बहुत कम बोलता था, दोनों के विचारों में साम्य का तो शायद नाम भी न था—फिर भी विभूति के जीवन में उसकी माँ एक ऐसे स्थान की पूर्त्ति कर रही थी जिसका रिक्त हो जाना विभूति के लिये एक जबर्दस्त ठेस-सी थी। पर इतना सब कुछ होने पर भी वह रोया नहीं, उसके एक आँसू भी नहीं आया और न वह चिंतित ही हुआ। गत-जीवन की सारी बातें भूलकर अब उसका ध्यान आगे की ओर गया। भविष्य उसके लिए प्रश्नों की एक विशद तालिका लेकर उपस्थित हुआ। वह कहाँ है और उसे कहाँ जाना है ?

दूसरी घटना—जिसने विभूति के जीवन में कुछ नवीनता पैदा की—वह थी उसका विवाह ! आप सुनकर हँसेंगे कि ऐसे युवक का विवाह ! पर हाँ, सचमुच वह विवाह के बन्धन में बँध

गया था! और उसके शब्दों में विवाह कोई 'बन्धन' नहीं था—चौंका देने वाली कोई बात नहीं थी। वह कहता था कि समान विचारों के दो युवक यदि मित्र हो सकते हैं, तो एक युवक और एक युवती यावज्जीवन मैत्री के सम्बन्ध-सूत्र में क्यों नहीं बँध सकते ? यह सर्वथा स्वाभाविक है।

विवाह के लगभग दो मास बाद विभूति जिस बात की आशंका करता था, वही सामने आई। पुलिस ने आतंकवादी-कार्यों में भाग लेने के संदेह में उसे गिरफ़्तार कर लिया। उसी के साथ उसके १०-१२ साथी भी पकड़े गये।

[४]

एक बड़े षड्यन्त्र का भण्डाभोड़ हुआ। कलकत्ते के पत्रों ने मोटे-मोटे अक्षरों में बङ्गाल षड्यन्त्र-केस के समाचार छापने आरम्भ किये। कलकत्ते में एक विचित्र हलचल सी मच गई। कई युवकों की धरपकड़ हुई। पूरे तीन साल तक मामला चलता रहा। मुख़बिर ने ऐसे-ऐसे रहस्यों को खोला, जिनकी स्वयं विभूति और उसके साथियों ने भी कभी कल्पना तक नहीं की थी। आख़िर हुआ यह कि विभूति को आजीवन कालेपानी की और उसके साथियों को लम्बी-लम्बी क़ैद की सजाएँ हो गईं।

शैलबाबू को समय-समय पर इन सब बातों का पता लगता रहा। कभी किसी दिन की कार्यवाही पढ़कर वे हर्ष से फूले नहीं समाते और किसी दिन की कार्यवाही पढ़कर वे बड़े खिन्न हो

जाते। यह सब क्यों और क्या था, इसका पता लगाना असम्भव है। जब मामला चल रहा था, तो अभियुक्तों के साथ बड़ा दुर्व्यवहार होता था। एक बार अपराध स्वीकार करवाने के लिये विभूति को नङ्गा कर खूब पीटा भी गया। उसे रात भर सोने नहीं दिया गया और ऐसी-ऐसी यातनाएँ दी गईं—जिन्हें सुनकर कलेजा काँप उठता है। शैल बाबू ने इन सब अत्याचारों की ओर धारा-सभा में सरकार का ध्यान आकृष्ट किया और प्रश्नों की झड़ी लगा दी। फल यह हुआ कि विभूति इन नार्किक यातनाओं के भय से मुक्त होगया।

इससे विभूति के हृदय में शैलबाबू के प्रति कुछ श्रद्धा उत्पन्न हो गई। उसे जान पड़ा मानों शैलबाबू उसके अपने ही कोई सम्बन्धी हैं। एक दिन उसने शैलबाबू को एक पत्र लिखा, जो इस प्रकार था—

'श्रद्धास्पद !

मेरा भाग्य-निर्णय आप पत्रों में पढ़ ही चुके होंगे। यदि हो सके तो कुछ प्रयत्न कीजियेगा। हाँ, एक कष्ट यह और देना चाहता हूँ कि जिस प्रकार आप पुत्रवत् मेरा पालन करते थे, उसी प्रकार अपनी अभागी पुत्री इन्दिरा की भी सुधि लेते रहियेगा। उसे आप अपनी ही पुत्री समझें। विशेष शुभ।

आपका आज्ञानुवर्ती,

विभू।'

पत्र को पढ़कर शैलबाबू एक अज्ञात आल्हाद से सिहर से उठे। इन्दिरा, कौन इन्दिरा ? वही तो न, जिसके साथ विभूति को 'छाया' सिनेमाघर में उन्होंने एक बार देखा था। हाँ, हाँ, वही जी। वही, छरहरे बदन की गोरी-चिट्टी-सी, खूबसूरत लड़की। रह तो जायगी ही मेरे पास—और नहीं तो जायगी कहाँ ? न विभूति के आगे पीछे कोई है, न उसी के। पर हाँ, कहीं श्रीमती जी कुछ·········ओह ! सब कुछ देखा जायगा। अभी चिन्ता क्या है ?

शैलबाबू की विचार-धारा उनके मित्र शशिशेखर के आने से अनायास टूट गई। एकदम हड़बड़ा कर वह बोले—'हल्लो शेखर बाबू—कैसे टपक पड़े आज ?'

'यों ही'—जेब में हाथ डालते हुए शेखर बाबू ने कहा—'आपके दर्शन करने आ गया था। आपने आज की 'बसुमति' पढ़ी है ?'

'बसुमति' ? शायद नहीं पढ़ी। क्यों कोई नई बात है क्या ?'—शेखर बाबू ने कहा।

'हाँ, बङ्गाल-षड्यन्त्र-केस के अभियुक्तों की सजाएँ घट गई हैं।' कहते हुए शेखर बाबू ने जेब से अखबार निकाला और पढ़ना शुरू किया—'हाईकोर्ट ने अपील स्वीकार करते हुए सब अभियुक्तों की सजाएँ घटा दी है। वैसे षड्यन्त्र-केसों में अपीलों से बहुत कम लाभ हुआ करता है।'

'हाँ, हाँ, फिर हुआ क्या ?'—शैलबाबू ने उत्सुकता से पूछा।

'विद्यासागर, शीलेन्द्र और विभूति को १४-१४ वर्ष का सपरिश्रम कारावास दण्ड मिला है। अन्य अभियुक्तों की सजाएँ भी कम हुई हैं और सुधीन बोस व धीरेन गांगुली छोड़ दिये गये हैं।'—शेखरबाबू ने कहा।

'हाँ', कहकर शैलबाबू कुछ गम्भीर से हो गये और शेखर बाबू की ओर देखकर बोले—'चलो अच्छा ही हुआ, बेचारे मौत के मुँह से तो बचे।'

[५]

तपेदिक़ से शैलबाबू की सहधर्मिणी का देहान्त हो गया। उनके पुत्र का देहान्त पहिले ही हो चुका था, पीछे दो वर्ष की एक कन्या थी, जिसके लालन-पालन का बोझ अब इन्दिरा पर आ पड़ा। वैसे शैलबाबू की धर्मपत्नी की बीमारी में इन्दिरा ने ही इस बालिका की देख-रेख की थी और बालिका भी अपनी 'इन्नो मौछी' से खूब हिल-मिल गई थी।

विभूति की सजा घटने की बात शैलबाबू ने इन्दिरा को ज्ञात नहीं होने दी। वह अब तक इसी भ्रम में रही कि उसके पति को आजीवन कालेपानी की सजा मिली है। जब कभी वह विभूति के सम्बन्ध में कुछ पूछती तो शैलबाबू बड़ी लापरवाही से कह देते—'इन्नो, उसे भूल जाओ। अब तो जीवित रहने

पर भी वह तुम से कभी मिल नहीं सकता। फिर जिस चीज़ पर अपना कोई अधिकार नहीं, जो कभी उपलब्ध नहीं हो सकती, उसका विचार और स्मरण ही क्या? जब उसने तुम्हें मुझे सौंप दिया है, तो मैं तुम्हें किसी प्रकार का कष्ट थोड़े ही होने दूँगा? मेरा यह घर अब तुम्हारा ही है; फिर तुम्हें चिंता किस बात की?'

इन्दिरा इस अनुरक्ति का ठीक-ठीक अर्थ शायद नहीं समझ सकी। वह इतना तो जानती थी कि उसे खाने, पीने और पहनने का तनिक भी कष्ट नहीं है—फिर भी न मालूम क्यों उसे विभूति की याद भूलती नहीं थी। आजन्म कालेपानी में कहीं आशा की क्षीण रेखा भी तो नहीं देख पड़ती थी—फिर भी वह सर्वथा निराश नहीं हुई थी। आँखों से ओझल हुए अपने विभूति को उसने हृदय से ओझल नहीं होने दिया था।

कोठी और महल, द्रव्य और प्रतिष्ठा जीवन के 'सूनेपन' को दूर नहीं कर सकते। वासना और विलासिता भी शायद उसकी अमोघ औषधि नहीं हैं। कहना न होगा कि शैलबाबू के घर में 'सूनापन' अपनी पूरी विभीषिका के साथ नहीं आया था और इसका श्रेय था इन्दिरा को। बच्ची की देख-रेख से बचने वाला समय इन्दिरा घर के काम-काज और शैलबाबू की सेवा-टहल में लगाती और प्रयत्न करती कि उन्हें सन्तुष्ट एवं सुखी रख सके।

आखिर एक वह दिन भी आया जब कि इन्दिरा ने स्वेच्छा से शैलबाबू से विवाह कर लिया—इसलिए नहीं कि समाज उसकी ओर उँगली उठाता था—बल्कि इस लिये कि उनकी अन्तरात्मा का यही तकाजा था ! विभूति को रटने वाली इन्दिरा इतनी जल्दी उसे कैसे भुला सकी, यह कहने की बात नहीं है ।

(६)

एक-एक दिन करके जब जीवन के सैकड़ों वर्ष और संसार के सैकड़ों युग बीत जाते हैं, तो चौदह वर्ष बीतना क्या बड़ी बात थी ? वे भी बीत चले। अब इन्दिरा तीन बच्चों की माँ थी। लक्ष्मी—शैल बाबू की पहली पुत्री—विवाहने योग्य हो गई थी और शैल बाबू तो बिलकुल बुढ़ा गए थे।

१४ वर्ष पूरे होने से कई मास पहले ही विभूति को कारागार से मुक्त कर दिया गया। वह सीधा कलकत्ते आया। यहाँ उसका कहाँ ठौर-ठिकाना तो था नहीं—सीधा वह शैल बाबू के घर पहुँचा। आज चौदह वर्ष बाद उसे कलकत्ते का जीवन और शैल बाबू का घर कुछ—नहीं, बहुत कुछ—बदले-से दिखाई दे रहे थे। शैल बाबू के बँगले के पास पहुँच कर उसने काँपते हुये हाथों से फाटक खोला और ज्योंही उसने अपना दायाँ पाँव सीढ़ी पर रक्खा, न जाने क्यों उसका हृदय जोर-जोर से धड़कने लगा। न मालूम क्यों उसके पाँव आगे उठने के बजाय पीछे पड़ने लगे। जैसे-तैसे कर वह देहलीज तक पहुँचा। देखा, सामने से लक्ष्मी पुस्तकें बगल में दबाये आ रही है। पहले तो वह सहमा, सोचा

शैल बाबू के यहाँ तो कोई युवती थी नहीं, कहीं मैं किसी दूसरे के घर में तो नहीं आगया हूँ। फिर साहस कर उसने पूछा—'शैल बाबू, यहीं रहते हैं न ?'

'हाँ' लक्ष्मी ने कहा 'क्यों तुम्हें कुछ काम है क्या ?'

'हाँ। वे कहाँ हैं ?' विभूति ने पूछा।

'वे तो इस समय कहीं गये हुए हैं।' लक्ष्मी बोली।

'अच्छा।' कह कर विभूति लौटने ही वाला था कि उसे कुछ याद-सा आया और उसने रुक कर पूछा—'घर में और कोई है ?'

'हाँ, माता जी हैं।' लक्ष्मी ने कहा।

'तो आप उन्हें ज़रा बाहर बुलाने की कृपा करेंगी ?'

लक्ष्मी गई और थोड़ी ही देर में इन्दिरा को साथ लेकर लौटी। सबसे छोटा लड़का इन्दिरा का आँचल पकड़े हुये रोता हुआ उसके पीछे-पीछे आ रहा था। इन्दिरा को देखते ही विभूति कुछ ठगा-सा रह गया। उसने कुछ-कुछ उसे पहचाना, पर इन्दिरा तो उसे बिलकुल नहीं पहचान सकी। हट्टे-कट्टे शरीर का सुन्दर युवक विभूति अब दाढ़ी-मूँछ वाला जर्जरित काय का बूढ़ा सा लगने लगा था। और इन्दिरा—अब वह दुबली-पतली इन्दिरा नहीं रही थी, जो विभूति के सामने थी—अब उसका शरीर स्थूल होगया था, तीन बच्चों की माँ जो ठहरी। पर चेहरा और आँखें शायद वही थीं।

विभूति ने सकपका कर कहा—'शैल बाबू नहीं हैं क्या ?'

'हाँ वे जरा कहीं गये हुए हैं'—आँचल सँभालते हुए इन्दिरा ने कहा—'कहिये, आपको कुछ काम है क्या ?'

'तो उनकी धर्मपत्नी को ही बुला दीजिये।' विभूति ने अधीर होकर कहा।

'आप कोई अपरिचित हैं क्या ?' कुछ शरमाते हुए इन्दिरा ने कहा—'मैं ही तो हूँ उनकी धर्मपत्नी।'

विभूति मानों अपनी आँखों पर विश्वास न कर सका। उसने भय-कम्पित स्वर में पूछा—'आपका शुभ नाम ?'

'मुझे लोग इन्दिरा कहते हैं'—नीचे देखते हुए इन्दिरा ने कहा।

'अच्छा तो मैं फिर आऊँगा'—कह कर तेजी से विभूति बँगले से बाहर चला गया। इन्दिरा ने देखा तेजी से सड़क पर जाता हुआ वह 'अपरिचित आगन्तुक' भीड़ में मिल कर अदृश्य हो गया।

फिर किसी ने विभूति को नहीं देखा।

उसे तपेदिक़ हो गई थी

राधा मेरी सबसे प्यारी बहन थी। संसार में उससे अधिक उन्सियत मुझे और किसी भी व्यक्ति या चीज़ से नहीं थी। वह यद्यपि मेरी सौतेली माँ से थी, पर हममें सगे भाई-बहन से भी अधिक प्रेम था। हम दोनों में से कभी किसी ने एक दूसरे को यह महसूस नहीं होने दिया कि हमारा जन्म दो माताओं से हुआ है। कभी-कभी मैं क्रोध में आकर कह बैठता—'राधा, तुम मुझसे दूर रहा करो। तुम्हारा-मेरा सिर्फ़ सौतेले भाई-बहन का सम्बन्ध है, इससे अधिक कुछ नहीं।' पर राधा इसे सच नहीं मानती। उसे मेरी बात पर कभी विश्वास नहीं हुआ। होता भी कैसे—उसके जन्म के आठ महीने बाद ही मेरी सौतेली माँ का स्वर्गवास हो गया था। फिर भला राधा उसके बारे मे क्या जान सकती थी? वह आँखों में आँसू भर लेती और उदास होकर कहती—'गिरीश भैया, तुम और मुझे जो चाहे कह लिया करो। दो गाली दे लिया करो, मार लिया करो, मैं तुमसे

कभी कुछ न कहूँगी। पर भूल कर भी मुझे कभी 'सौतेली-बहन' न कहा करो। न मालूम क्यों, मुझे यह सुन कर दुःख होता है; इन शब्दों का आघात मैं सहन कर नहीं सकती।' मैं ठहाका मार कर हँस देता और जाकर राधा को मनाता—'नहीं राधा, तुम मेरी सगी बहन हो, प्राणों से भी प्यारी। सौतेली बहन तो मैंने सिर्फ तुम्हें खिझाने को कह दिया था। अच्छा, अब तो मुझसे नहीं लड़ोगी न ?' राधा सिर हिला कर मेरी ओर मुस्कराती हुई देखती। उसके उदास चेहरे पर हँसी की एक क्षीण रेखा दौड़ जाती। उसकी आँखों में उमड़ते हुए आँसू खिलखिला कर छलक पड़ते। मैं उसके आँसू पोंछ देता और हम फिर हिलमिल कर खेलने लगते। सच कहता हूँ, हम जैसा प्रेम बहुत कम भाई-बहनों में मिलेगा।

पिता जी राधा को मुझसे भी अधिक प्यार करते थे। इसका कारण यह था कि राधा बिना माँ की बेटी थी। जब मेरी सौतेली माँ उसे सिर्फ आठ महीने की छोड़ कर चल बसी, तो पिता जी ने ही उसका लालन-पालन किया। राधा के जीने की आशा बहुत कम लोगों को थी। वैसे भी लड़कियों के दीर्घ-जीवन की कामना कितने लोग करते हैं ? पर नियति का रहस्य कौन जान सका है ? जिस क्रूर विधाता ने मेरी सौतेली माँ को असमय ही छीन कर हमारे घर को श्मशान बना दिया, न जाने क्यों, उसने राधा का बाल भी कभी बाँका नहीं होने दिया। जब-तब पिता जी हँसी-हँसी में कह देते कि—'गिरीश, तेरी माँ

को खोकर उसके बदले में हमने राधा को पाया है।' इस पर राधा तुनक कर कहती—'तो मुझे भी संखिया देकर मार न डालो।' और हम तीनों खिलखिला कर हँस पड़ते।

राधा हमारे घर का एक हँसता-खेलता सजीव खिलौना थी; उसकी वजह से घर का सूनापन हमें कभी नहीं खलता था। कभी-कभी तो पिता जी हमारे हो-हल्ले से तङ्ग आकर यहाँ तक कह बैठते थे—'तुम हो तो दो बहन-भाई, पर सारे दिन घर को सिर पर उठाये रहते हो।' मैं और राधा दोनों अपनी इस 'तारीफ़' को चुपचाप सुनते, फिर दोनों आँखों ही आँखों में हँसते और भाग खड़े होते। हम सदा भलमन्साहत से ही खेलते हों, यह बात नहीं थी। कई बार धक्का-मुक्की, थप्पड़-गाली और लात-घूँसे तक भी नौबत पहुँच जाती थी, पर थोड़ी ही देर बाद फिर सुलह हो जाया करती। एक बार तो मैंने राधा को ऐसा धक्का दिया कि झरोखे के किवाड़ से टकरा कर उसका सिर फट गया। कालान्तर में राधा ठीक तो हो गई, पर उसके सिर पर इसका निशान आजीवन बना रहा। जब कभी मैं हँसी-हँसी में पूछता—'राधा, तुम्हारे सिर में यह क्या हो गया?' वह मुस्करा कर कहती—'यह तो अपने भैया का प्रसाद है!' और हम दोनों खिलखिलाकर हँस पड़ते।

बचपन के वे दिन कितने सुख और बेफ़िक्री के साथ बीते, यह मैं ठीक-ठीक कह या लिख नहीं सकता। कई बार जी में आया, मैं और राधा सदा 'बच्चे' ही क्यों न बने रहें? उस

जीवन में स्वर्गीय सुख था, एक अजीब रस था और न जाने क्या-क्या था ? जब कभी उन सुनहरे दिनों की याद आती है, मैं बेत की तरह काँप उठता हूँ। कुछ क्षण के लिये सब कुछ भूल कर पागल की तरह उन्मत्त हो न जाने क्या सोचने-करने लगता हूँ। सोचता हूँ—क्या वह सब एक स्वप्न ही था ? सुनहरा, गुलाबी एक मादक स्वप्न ही ! आज वे दिन कहाँ हैं ? कहाँ है मेरी राधा ? कहाँ है उसका वह हँसना, किलकना, मचलना, रूठना और लड़ना-झगड़ना ? आज तो सिर्फ एक याद बाक़ी है !

(२)

सन्ध्या को जब पिता जी दफ़्तर से लौटे तो नीचे से पुकारा—'गिरीश, जरा एक गिलास ठण्डा पानी तो पीने को लाना, बेटा !'

मैं और राधा ऊपर दुमञ्जिले पर कैरम खेल रहे थे। मैंने पिता जी की आवाज सुनते ही उठते हुए कहा—'राधा, तुम गोटें जमाओ, इस बार स्ट्राइक तुम्हारा है। मैं पिता जी को पानी पिलाकर आता हूँ।' पर राधा भला कब मानने वाली थी। मैं तो अभी उठ ही रहा था, किन्तु वह चट कुर्सी पीछे खिसका कर यह कह कर भाग खड़ी हुई—'नहीं, गोटें तुम जमाओ। पिता जी को पानी मैं पिलाये आती हूँ।'

मेरे लिये और चाहिये ही क्या था ? सेवा-भाव को मैं जरा क़िफ़ायत के साथ ही काम में लाया करता हूँ अतः धम्म से वापिस अपनी कुर्सी पर बैठ गया। गोटें जमाकर मैं राधा के

लौटने की प्रतीक्षा करने लगा। थोड़ी देर बाद राधा खाली गिलास लेकर लौटी और बोली—'गिरीश भैया, तुम्हे पिता जी ने बुलाया है।' मैंने कहा—'क्या पानी नहीं ले गया, इसका जवाब तलब करने को पेशी होगी?' राधा बोली—'नहीं, आज तो वे बड़े खुश हैं। कहते हैं, उससे कुछ ज़रूरी काम है।' मैंने कहा—'अच्छा तुम बैठो, मैं अभी पाँच मिनट में आता हूँ'—और नीचे चला आया।

ज्योंही मैं बैठक में पहुँचा, पिता जी बोले—'बेटा गिरीश, ज़रा उस काले कोट की जेब में जो एक लिफ़ाफ़ा पड़ा है, उसे निकालना तो।' मैंने खूँटी पर लटके कोट में से एक नीला-सा लिफाफा निकाल कर पिता जी के हाथ में दिया। उन्होंने उसमें से एक फ़ोटो निकाल कर मुझे देते हुए कहा—'देखो यह लड़का कैसा है? घर और बर मुझे तो दोनों अच्छे लगे। लड़का एम० ए० पास है। ३००) माहवार पर सरकारी कॉलेज में प्रोफ़ेसर है। खूबसूरत और तनदुरुस्त भी काफ़ी है। तुम्हारा क्या ख़याल है, राधा के लिये ठीक रहेगा न?'

मैंने फ़ोटो को देखते हुये कहा—'हाँ, लड़का तो अच्छा मालूम होता है। पढ़ा-लिखा और बारोज़गार भी है। अच्छा मैं यह राधा को दिखा कर आता हूँ।' यह कह कर मैं पिताजी के रोकते-रोकते ऊपर दौड़ गया। देखा, राधा कैरम-बोर्ड पर गोटों को इधर-उधर कर रही है। फ़ोटो की ओर देखते हुये मैंने कहा—

'राधा, मैं तो शादी कर रहा हूँ। ओहो! कितनी खूबसूरत है यह लड़की ?' राधा उठ कर मेरी ओर हाथ बढ़ाते हुये बोली—'देखें कौन है यह इन्द्र की परी ?' मैं दो क़दम पीछे हट गया, और फ़ोटो को छाती से लगाते हुए बोला—'नहीं, इतनी आसानी से नहीं दिखाऊँगा। एक वादा करो तो दिखा सकता हूँ।' राधा ने सकपका कर कहा—'वादा कैसा, दिखाओ भी।' मैंने कहा—'दिखा दूँगा, पर तुम मेरी भावी-पत्नी की निन्दा न करना। अगर तुम यह कहने का वादा करो कि 'हाँ, मुझे पसन्द है' तब दिखा सकता हूँ।' राधा ने कहा—'अच्छा बाबा, यही सही। कह दूँगी—मुझे पसन्द है।' मैंने फिर गम्भीर होकर पूछा—'तो मेरी क़सम खाकर कहो—वादा करती हो न ?' राधा ने कहा—'क़सम-वसम की क्या बात, मैं जो कह रही हूँ, क्या झूठ है ? अच्छा, वादा करती हूँ।'

मैंने फोटो राधा को दे दी। उसकी ओर देखते ही राधा का मुँह लज्जा से लाल हो गया। उसने तुरन्त फोटो मुझे लौटा दी और बनावटी क्रोध मे बोली—'बदमाश! हर वक्त तुम्हें मज़ाक ही सूझती है। जाओ अब मैं तुमसे कभी नहीं बोलूँगी।' मैं फ़ोटो लेकर नीचे दौड़ गया।

पिता जी कुछ सोच रहे थे। बोले—'इसी जून में विवाह करने को कहते हैं।'

'इसी जून में ?' मैंने पूछा—'आखिर ऐसी जल्दी क्या है ?'

'जल्दी-वल्दी तो कुछ नहीं।' पिता जी ने कहा—'अभी लड़का गर्मियों की छुट्टियों में घर आया है। सरकारी नौकरी ठहरी, बार-बार छुट्टी मिलना मुश्किल है। फिर आजकल फ़ालतू ख़र्च भला कौन करना चाहता है?'

'जैसी आपकी आज्ञा'—मैंने कहा—'मैं तो सोचता था कि राधा दसवीं में आ गई है, इस वर्ष मैट्रिक पास कर लेती, वर्ना शादी के बाद पढ़ाई होना ज़रा कठिन ही है।'

'यह सब कुछ नहीं। लड़का ख़ुद प्रोफ़ेसर है, क्या वह इसे पढ़ने की भी सुविधा न देगा?'

मैं पिता जी के मिज़ाज से बख़ूबी वाक़िफ़ था, अतः चुप हो रहा। शादी पक्की हो गई।

[३]

राधा की शादी को ९-१० महीने हो गये। मैं और पिता जी राधा को देखे बिना एक क्षण भी नहीं रह सकते थे, पर न जाने इतने दिन तक उससे दूर रहने का धैर्य और साहस हममें कहाँ से आ गया। दो-चार बार उसे बुलाने को लिखा, तो वर महाशय ने लिख दिया कि इस समय उसे भेजने से मेरे घर की सारी व्यवस्था बिगड़ जायगी। अब तो अगली गर्मियों की छुट्टियों में ही ले जाना। पिता जी बड़े ही सहनशील और कोमल स्वभाव के थे। उन्होंने कभी इस विषय में हठ या आपत्ति नहीं की। मुझे यह बात बुरी लगी। कई बार तो बिगड़ कर मैंने यहाँ तक

कह दिया कि—'हमारी माँ नहीं रही तो क्या अब राधा इस घर की देहरी भी नहीं देख सकेगी ?' पिता जी की आँखें भर आतीं। गद्‌गद् स्वर से वे कहते—'गिरीश बेटा, मेरा दिल आख़िर पत्थर का तो है नहीं। मैं क्या राधा को तुमसे कम प्यार करता हूँ ? पर बेटा, ब्याह के बाद लड़की पराये घर की हो जाती है। उस पर हमारा अधिकार नहीं रहता। तुम्हारे बहनोई अगर चार दिन के लिये उसे भेज दें तो उनकी भलमन्साहत और कृपा है, वर्ना हम क्या कर सकते हैं ?' मैं पङ्ख कटे हुये पत्ती की तरह यह सब बातें सुनकर, मन मसोस कर, चुप रह जाता।

विवाह के बाद हर दूसरे दिन राधा का पत्र आता था और मैं सब काम छोड़ कर उसका जवाब देता था। फिर सप्ताह में दो बार उसका पत्र आने लगा। कुछ दिन बाद सप्ताह में उसका सिर्फ़ एक ही पत्र आने लगा। पर मैंने यह समझ कर उससे कोई शिकायत नहीं की कि शायद वह काम-काज में अधिक व्यस्त रहती होगी, अतः पत्र लिखने का समय नहीं मिलता होगा। धीरे-धीरे यह क्रम कम हुआ—दो और कभी-कभी ३-४ हफ़्तों में राधा का एक पत्र आता। फिर तो १, २ और कभी-कभी तीन महीने मे उसका एक पत्र आता। पत्रों मे अब बहन के स्नेह और आत्मीयता की छाप भी मुझे कम पड़ती दिखाई दी। अब उसके पत्रों में औपचारिकता मात्र ही रह गई थी—राधा की वह चुलबुलाहट, उसके स्नेह का उमड़ता हुआ स्रोत, न जाने कहाँ विलीन हो गया। मेरे कई पत्रों के उत्तर मे उसका जो कार्ड

आया वह इस प्रकार था—'तुम्हारे सब पत्र यथासमय मिले। कारणवश उत्तर न दे सकी। क्षमा करना। तुम्हारे कुशल-समाचार जानकर खुशी हुई। हम सब सानन्द हैं। तुम किसी बात की चिन्ता न करना। पिता जी को प्रणाम।' राधा के हर पत्र का अन्तिम वाक्य हुआ करता था—'मुझे लेने कब आ रहे हो ?'—पर इस बार वह नहीं था। न जाने क्यो ?

कार्ड को पढ़कर मैं तड़प उठा। समझ में नहीं आया, आख़िर राधा के पत्र-व्यवहार में यह परिवर्त्तन कैसे और क्यों आ रहा है ? क्या ससुराल के सुखों के आगे राधा अपने प्यारे भाई को भी भूल रही है ? पर जी नहीं माना। मैं आर राधा जिस स्नेह-सूत्र में बँधे थे, वह इतना दुर्बल नहीं कि ९-१० महीने पृथक रहने से टूट जाय। अवश्य राधा किसी सङ्कट या असुविधा में होगी। मेरे जी मे तरह-तरह की दुःशङ्काएँ उठने लगीं। न जाने क्या-क्या बातें उसके वैवाहिक-जीवन के बारे में मैं सोच गया और फिर स्वयं आत्मतोष के लिये उनका समाधान भा कर गया।

ज्यों ही मेरी परीक्षा समाप्त हुई मैंने पिता जी से अपने बहनोई को लिखवा दिया कि मैं राधा को लेने 'आ रहा हूँ'। बिना उत्तर की प्रतीक्षा किये ही मैं चल पड़ा।

× × ×

जब मैं अपने बहनोई के घर पहुँचा, तो मालूम हुआ कि वे कहीं बाहर चले गये हैं। मैं घर के भीतर गया। देखा—आँगन

में आधा घूँघट निकाले राधा बैठी हुई सिसक-सिसक कर रो रही है और उसकी सास हाथ में चिमटा लिए हुये खड़ी कुछ कह रही है। वह क्या कह रही थी, यह तो मुझे याद नहीं रहा, पर इतना जरूर याद है कि उस समय उसकी मुखमुद्रा रणचण्डिका से किसी क़दर कम रौद्र न थी। मुझे देखते ही उसने चिमटा पीछे की ओर छुपा लिया। अभिवादन आदि की बात भूल कर मैं दौड़ कर राधा के पास पहुँचा। मुझे देखते ही राधा हँस दी उसके आँसू हँस पड़े, उसका विषाद मुस्करा पड़ा और मेरे गले से लिपट कर वह बोली—'तुम...आगये...भैया! ...मैं...कब... से...तुम्हारी...राह...देख...रही थी!'

मैंने राधा के म्लान चेहरे को, उसकी लाल और सूजी हुई आँखों को, उसके बिखरे हुए बालों और सूखे हुये होठों को देख कर आश्चर्य से पूछा—'राधा, तुम्हारा यह क्या हाल है? तुम नववधू हो, ९-१० महीने तुम्हारे विवाह को हुये हैं और तुम्हारा यह हाल? राधा तुम्हें यह क्या हो गया? मैं तो समझता था, तुम सुखी हो, भले घर और वर को पाकर सुखी रहोगी।' इतने मे ही उसकी सास चिल्ला उठी—'बहू, देख कितनी धूप चढ़ आई है। आज कुछ खाने-पीने को भी बनेगा या बाजार से मँगवाना पड़ेगा। अपने भैया से, दिन भर पड़ा है, फिर बातें कर लेना। थका-माँदा आया है—जरा आराम भी करने देगी या दिमाग़ ही चाट जायगी।'

मैंने धीरे से राधा से कहा—'जाओ, काम करो, बातचीत फिर करेंगे'—और जाकर उसकी सास के पाँव छुए। कुशल-क्षेम पूछने के बाद वे बोलीं—'बेटा, तुमने अपनी बहन को पढ़ाया-लिखाया तो जरूर, पर फायदा उससे कुछ भी नहीं हुआ। न तो उसमें बात करने की तमीज है, न बहू-बेटियों का शऊर। घर का काम-काज तो भला वह क्या जाने—बेचारी स्कूल से पढ़ती-पढ़ती आई है। फिर घर पर माँ भी नहीं थी, जो कुछ सिखाती।' मैंने मन में उमड़ते हुये क्रोध और ग्लानि को दबाने का यत्न करते हुये कहा—'आपका फ़रमाना दुरुस्त है अम्मा जी, पर अब तो यह आपकी लड़की है। धीरे-धीरे आपके सहयोग से सब कुछ सीख जायगी। अभी तो वह है भी बच्ची ही।'

'बची बड़ी है'—राधा की सास ने तेवर बदल कर कहा—'ये १९ वाँ साल जा रहा है। मैं तो १९ साल की उम्र मे ३ बच्चो की माँ थी और फिर भी सारा काम ख़ुद करती थी। और इसे रोटी बनाने में ही सिर-दर्द हो जाता है।'

'यह बड़े लाड़-प्यार में पली है। धीरे-धीरे सब सीख जायगी।'

'सीख क्या जायगी अपना सिर! मेरे कहे मे तो चलती नहीं है—न अपने पति का कहना मानती है। आखिर ऐसी बहू को हम क्या दियासलाई लगावें।'

इस बार मैं कुछ न बोला। यह सब मुझे असह्य था, पर करता क्या। मुझे बोलने का अधिकार नही। हिन्दू-समाज में

लड़की को जो दुख और अपमान सहना पड़ता है, उसके भागी-दार उसके परिवार वाले भी होते हैं—विशेषकर बाप और भाई। मैं जानता था, बहुत अच्छी तरह जानता था, कि राधा ऐसी नहीं है, कभी ऐसी हो नहीं सकती और यह कर्कशा बुढ़िया सरासर झूठ बोल रही है। पर मेरे लिये बोलना वर्जित था। बोल तो शायद मैं उठता, पर यह सोचकर नहीं बोला कि कहीं बात बढ़ न जाय और राधा का भावी जीवन अधिक सङ्कटापन्न न हो जाय। लहू के घूँट की तरह मैं इन सारी बातों को पी गया।

दो दिन बाद राधा को विदा कराकर मैं घर के लिये चल पड़ा।

(४)

घर आकर राधा ने ससुराल की सारी बातें सुनाईं। सास उसे इसलिये मारा-पीटा और बुरा-भला कहा करती थी कि वह राधा को दिये गये दहेज से असन्तुष्ट थी। उसकी राय में इससे अच्छा दहेज तो नाई-धोबियों के यहाँ दिया जाता है। पति महा-शय इसलिये उससे अप्रसन्न थे कि वह उनकी माँ को सुखी और सन्तुष्ट क्यों नहीं कर सकी ? फिर उनके लिये जो सूट सिलवाया गया था, वह 'हल्के' कपड़े का था और बड़ा 'भद्दा' सिया गया था ! राधा का जब-तब किताब या अख़बार पढ़ना उन्हें असह्य था। उनका ख़याल था कि पढ़-लिख कर स्त्रियाँ बिगड़ जाती हैं। मुझे राधा का चिट्ठी लिखना भी उन्हें बुरा लगता था। उनका

कहना था कि बिना शादी-ग़मी के रोज़-रोज़ चिट्ठी लिखना न सिर्फ़ एक कुटेव है, बल्कि फ़िज़ूलख़र्ची भी है। और औरत ख़ुद चिट्ठी क्यों लिखे, जो कुछ लिखाना हो अपने पति को कह दे, वह लिख देगा। एक बार तो उसकी सास ने यहाँ तक कह डाला कि—'रोज़-रोज़ अपने किस यार को चिट्ठी लिखती है? मुझसे बहाना बनाती है कि भाई को चिट्ठी लिखती हूँ, जैसे मैं अभी भोली बच्ची हूँ—यह सब समझती ही नहीं।' जब राधा ने विनम्र शब्दों में इस 'अभियोग' का खण्डन किया, तो 'सामने बोलने' और 'ज़बान चलाने' के सङ्गीन अपराध में चिमटे से उसे सज़ा दी गई।

मैंने झुँझला कर राधा से कहा—'राधा, पर तुम यह सब चुपचाप सहन कैसे कर गई? क्या तुममे इतना भी साहस नहीं कि......'

'साहस?' राधा ने मेरी बात बीच मे ही काट कर कहा—'साहस क्यों नहीं है। सङ्कट में स्वतः साहस का जन्म होता है। पर भैया, हिन्दू नारी साहस की शरण लेकर समाज मे नहीं रह सकती। उसके लिये यह गुण ही, अवगुण, कलङ्क है। अगर मैं साहस से काम लेती तो मेरे लिये आज कहीं ठौर-ठिकाना न होता।

'यह तुम क्या कह रही हो, राधा?' मैंने आश्चर्य से पूछा—'क्या स्त्री होना पाप है? क्या उसके प्राण नहीं? क्या वह भला-बुरा नहीं समझ सकती?'

'हाँ, हिन्दू-समाज में स्त्री होना पाप है, भैया ! यहाँ उसकी न कोई इच्छा है, न सुख, न भला-बुरा और न उसका कोई पृथक अस्तित्व। कह सकते हो, वह एक मरी हुई खाल की खलीती है, जिसका पुरुष सौदा करता है, मनमाना उपयोग करता है और नाकारा हो जाने पर एक दिन चिता पर रख कर जला देता है।' मेरी और राधा की आँखों से आँसू बह रहे थे, पर उन आँसुओं की व्यथा को समझने वाला कौन था ? ऐसा जान पड़ रहा था कि हम दोनों जीवन की भूलभुलैया में पड़ कर एक-दूसरे को खो बैठे हैं, प्रयत्न करने पर भी एक-दूसरे को समझ नहीं सके हैं। या मानो इस समस्या का कोई हल ही न हो।

राधा के ससुराल की सारी बातें मैंने जाकर पिता जी को सुनाईं, वे भी बड़े दुखी हुये। मैंने कहा—'यही घर और वर है न, जिसकी तारीफ करते हुये आप नहीं थकते थे ? लड़का एम० ए० पास है। ३००) माहवार पर सरकारी कॉलेज में प्रोफेसर है। खूबसूरत और तन्दुरुस्त भी काफी है ! आखिर वे गुण अब क्या हुये ?' पिता जी को इससे चोट-सी लगी—बोले—'बेटा, किसी के पेट में घुस कर तो जाँच की नहीं जा सकती। जो चार आदमी कहें, उसी पर विश्वास करना पड़ता है। मुझे क्या मालूम था कि एम० ए० पास और प्रोफ़ेसर होकर भी लड़का ऐसा नामाकूल निकलेगा ? जिस राधा को मैंने कभी छड़ी तक नहीं छुआई, वह चिमटों से पिटे, यह भला मुझे कब सह्य हो सकता है ? पर बेटा,

अब क्या हो सकता है ! अब तो जो कुछ राधा के भाग्य में बदा होगा, वही होगा।'

'भाग्य में क्या ख़ाक बदा होगा? माता-पिता की ग़लती का दण्ड लड़की क्यों भोगे? बिना जाने-बूझे एक क़साई के गले आपने मढ़ा है। इसमें राधा का क्या क़सूर, जो वह जन्म भर दण्ड भोगे।'

'बेटा, तुम ठीक कहते हो। मैं मानता हूँ कि यह सरासर मेरी ग़लती है, पर अब तो सिवा राधा के पति और सास को समझाने-बुझाने के और हो ही क्या सकता है? आगे यह है और इसकी तक़दीर।'

मैं अनमना-सा होकर बाहर चला गया—मानो यह सब कुछ मेरी समझ में नहीं आ रहा हो। लड़की का भविष्य उसके भाग्य या तकदीर द्वारा ही निर्मित होता है, यह मैं कैसे मान लूँ? मेरे मन में तो बार-बार यही विचार उठता था कि पिता जी ने एम० ए० की डिग्री और जायदाद के नाम पर राधा को बेच दिया है, ब्याहा नहीं। इस झूठी शान और मोह के बजाय तो कहीं अच्छा होता अगर राधा किसी ग़रीब और कम पढ़े-लिखे युवक के साथ ब्याह दी जाती। पर अब यह सब कुछ सोचने से क्या हो सकता था? यह तो विवाह से पहले ही सोचा जाना चाहिए था।

राधा के मुँह पर छाई हुई मुर्दनी को देख कर मुझे रह-रह कर क्रोध आता था, दुःख और ग्लानि का भी अनुभव होता

था। पर मैं कर क्या सकता था ? एक बार क्रोध में मेरे मुँह से निकल गया—'राधा, वह तुम्हारा पति मनुष्य है या राक्षस—हृदयहीन कहीं का ?' कहने को तो मै आवेश में यह कह गया, पर मेरे इन शब्दों ने राधा के हृदय पर तीर की तरह चोट की। नीची आँखें करके उसने कातर स्वर मे कहा—'भैया, उन्हें अपशब्द न कहो। भले या बुरे, जैसे भी कुछ वे हैं, आख़िर मेरे पति हैं, मेरे सोहाग के देवता हैं। जानते हो हिन्दू नारी के लिये पति 'परमेश्वर' हैं। वह उसकी निन्दा कैसे सुन और सह सकती है ?'

मुझे अपनी भूल मालूम हुई। साथ ही राधा की नासमझी और भोलेपन पर दया भी आई। एक बार तो जी में आया कि राधा को समझाऊँ कि तुम ग़लती पर हो। ऐसे राक्षसों को परमेश्वर समझ कर ही न जाने कितनी देवियों ने अपने अमूल्य जीवन को व्यर्थ गँवा दिया, पर इस राक्षस का पाषाण-हृदय आज तक भी मोम नहीं हुआ। तुम चाहो तो इसके पाश से मुक्त हो सकती हो। किन्तु यह सोच कर मैं चुप हो रहा कि यह बात बहुत दूर की है, राधा इसे ठीक-ठीक समझ नहीं पायेगी। स्वयं पिता जी तलाक़ के नाम से चौंकते थे।

(५)

थोड़े दिन बाद राधा फिर अपनी ससुराल चली गई। मैंने और पिता जी ने उसके पति महाशय को बड़ी मिन्नत ख़ुशामद के बाद इस बात के लिये राज़ी किया कि वे राधा को इस बार

आराम से रखेंगे। ग़लती हो जाने पर उसे बहुत कड़ा दण्ड नहीं देंगे। जब वह चाहे मुझे या पिता जी को चिट्ठी लिख सकेगी। ख़ुद भी पढ़ सकेगी।

इन सब बातों से मेरी चिन्ताओं का भार कुछ हल्का जरूर हो गया था—यद्यपि यह आशङ्का मुझे हर समय रहती थी कि इन बातों को राधा की ओर से की गई शिकायतें समझ कर कहीं उसके साथ और सख़्ती न की जाय। बाद में राधा के पत्रों से यह बात स्पष्ट सत्य सिद्ध हुई। उसके पति के व्यवहार मे तो कुछ परिवर्तन जरूर हुआ, पर उसकी सास ने समझा कि बहू ने अपने मैके में जाकर मेरी जो झूठी (?) शिकायतें की हैं, उसका मज़ा उसे ज़रूर चखाना चाहिए।

जब-जब राधा का पत्र आता, मैं पिता जी को दिखाता और बड़ा रञ्जीदा होता। एक बार तो वे झुँझला कर कह बैठे—'तू भी बड़ा बावला है रे गिरीश, जब देखो तब राधा, राधा, राधा! आख़िर मुझसे भी ज्यादा उसकी चिन्ता तुझे क्यों है? उसका दुःख-सुख तो तू बँटा नहीं सकता, फिर व्यर्थ की आहें भरने से क्या लाभ? अब तो उसे सारी ज़िन्दगी उसी ससुराल मे बितानी है, चाहे वहाँ सुख मिले चाहे दुःख। माँ-बाप लड़की का कब तक साथ दे सकते हैं? तू अपने काम से मतलब रख, सास उसकी कौन अब १००-५० साल बैठी रहेगी?' मैं अपना-सा मुँह लेकर रह जाता। उनसे कहता भी क्या?

घर से अब मेरा जी उचट गया। एक तो राधा की चिन्ता, फिर सूने घर में दिन भर अकेले पड़े रहना, ऊपर से पिता जी का रौब-दाब और राधा का नाम तक न लेने की सख्त आज्ञा! परीक्षा-फल तो निकल ही चुका था, सिर्फ सर्टीफिकेट के आने की प्रतीक्षा थी। आखिर वह भी आ गया और मैं डॉक्टरी पढ़ने के लिये बम्बई चल दिया।

बम्बई में आकर मैंने सन्तोष की साँस ली। जी-बहलाव के साधनों की यहाँ कमी नहीं थी, पर मेरा मन राधा में अटका था। उसकी सास की भयानक मुख-मुद्रा और चिमटे का दृश्य बार-बार मेरी आँखों के सामने आता था और मैं काँप उठता था। सोते-बैठते हर बार मुझे यही खयाल होता कि राधा सुखी नहीं है। उसके जी को वही हाय-हत्या होगी। भला उस अजनबी घर में इस तरह वह कब तक रहेगी। उस भोली और नासमझ राधा का जीवन आखिर कैसे बीतेगा। मैं जब-जब राधा से पत्र लिखकर पूछता कि अब तुम्हारे पति और सास का रुख कुछ ठीक हुआ या नहीं, तो वह लिख देती कि अब सब कुछ ठीक है—तुम व्यर्थ मे चिन्ता न करो।

पर राधा के कहने और पिता जी के डाँटने-फटकारने से मैं उसके बारे में चिन्ता करना कैसे छोड़ सकता था? मेरा और राधा का शरीर का नहीं रक्त और आत्मा का सम्बन्ध था। सिसकती हुई राधा के प्रफुल्ल कमल से नेत्रों में उमड़ते हुए आँसू मुझे भला निश्चिन्त कैसे रहने दे सकते थे? इसीलिये तो मैं

कहा करता हूँ कि मुझमें और राधा में जैसा प्रेम रहा है, वैसा बहुत कम भाई-बहिनों में मिलेगा। जिस दिन प्रतीक्षा करने के बाद राधा का पत्र न मिलता, मैं इतना अधिक उदास और निराश होता कि दिन भर किसी काम में जी नहीं लगता। न खाना अच्छा लगता न हँसना-खेलना। कई बार तो इसी कारण मैं कालेज तक नहीं गया और न अपने किसी सहपाठी से मिला। इस अन्यमनस्कता के कारण बहुत से लोग मुझ पर तरह-तरह के शक भी करने लगे, पर मैं इन सबको अपना हृदय चीर कर कैसे दिखा देता कि सचाई यह है। दुनियादार लोग भाई और बहन के इस अलौकिक प्रेम की कल्पना भला कैसे कर सकते हैं?

(६)

शाम को ज्योंही मैं होस्टल में लौटा, वार्डन के क्लर्क ने एक लिफाफा मुझे देते हुए कहा—'मिस्टर गिरीश, आपका यह तार है। अभी कोई १०-१५ मिनट हुये आया है।' धड़कते हुए दिल और काँपते हुए हाथ से मैंने लिफाफा ले लिया और क्लर्क को 'थैंक्स' कहकर अपने कमरे में चला गया। बत्ती जलाकर मैंने लिफाफ़ा खोला और तार पढ़ा। लिखा था—'राधा की हालत चिन्ता-जनक है। पहली गाड़ी से आओ!' तार राधा की सास की ओर से दिलवाया गया जान पड़ता था, क्योंकि उसके नीचे भेजने वाले का नाम लिखा था—'अम्मा'!

तार को पढ़कर मेरा माथा ठनका। राधा की हालत इतनी ख़राब हो गई और मुझे उसने कभी एक शब्द भी नहीं लिखा?

पर फिर ख़याल आया, कहीं तार मिलने के बहाने झूठ-मूठ को ही तो नहीं दिया गया है? परन्तु राधा ऐसा पागलपन नहीं कर सकती। वह तो सीधी-सच्ची देवी है। मिलने की उत्कण्ठा होती तो वह साफ़-साफ़ क्यों न लिख देती। तरह-तरह की आशङ्काएँ मन में उठती थीं और मैं जैसे-तैसे जी को समझा-बुझा कर शान्त कर लेता था। उसी रात को मै बम्बई से रवाना हो गया।

× × ×

अपने बहनोई के घर पहुँच कर मैंने देखा—राधा कहीं भी नहीं है। बहनोई घर पर थे नहीं। राधा की सास खाना बना रही थी। मैं उनके पास गया, पाँव छुये और पूछा—'राधा कहाँ है, अम्माँ?'

'आये गिरीश बाबू। बैठो!' बनावटी मुस्कुराहट के साथ राधा की सास ने कहा—'राधा अस्पताल मे है। आज शाम को घर ले आयेंगे। उसे तपेदिक़ हो गई है, कई महीनों से इलाज हो रहा है, पर कोई दवा कारगर होती दिखाई नहीं देती। कल डाक्टरों ने कह दिया है कि मरीज़ के बचने की आशा अब केवल एक प्रतिशत है। इसे घर ले जाइये। दोनों वक़्त डाक्टर जाकर देख आया करेगा। क्या किया जाय बेटा, ईश्वर के आगे किसी का वश नहीं।'

'बचने की आशा केवल एक प्रतिशत है?' मैं पागलों की तरह चिल्ला उठा। आँसुओं के साथ मेरी आँखों में खून उतर आया; जी मे आया इसी समय बम्बई लौट जाऊँ। मेरे यहाँ

रहने या राधा से मिलने से अब लाभ ही क्या ? जिस ढङ्ग से राधा का वैवाहिक-जीवन बीता है, उससे ऐसे ही परिणाम की आशा की जा सकती है। विवाह के दूसरे ही दिन से जिसका ख़ून जलने लगा हो, तिल-तिल करके जिसका तन छीजने लगा हो, वह भला सुखी और स्वस्थ कैसे रह सकती है ? नाज़ में पली हुई राधा चिमटों की मार से भला कैसे पनप सकती थी ? ख़याल आया कि इस बुढ़िया से कह दूँ कि तूने और तेरे पूत ने मेरी बहन को मारने की साजिश की है। यह सब तुम दोनों के दुर्व्यवहार का ही फल है। तू सास नहीं डाइन और तेरा पूत पति नहीं कसाई है। पर समाज, शिष्टता और लोक-लाज ने मेरी जबान पर ताला लगा दिया। सब कुछ जानते-समझते भी बोल मैं कुछ नहीं सकता था। नई उम्र के युवक-युवतियों के इस महाव्याधि का ग्रास बनने का प्रमुख कारण क्या उनका वैवाहिक जीवन नहीं है ? क्या राधा की सास सी चुड़ैलें और उसके पति से राक्षस इस रोग के उत्पादक कीटाणु नहीं ? फिर समाज इसे क्या कहेगा—सिर्फ़ एक असाध्य रोग, एक लाइलाज बीमारी ? हत्या नहीं ?? क्यो नहीं—छुरे, पिस्तौल और ज़हर से की जाने वाली हत्या में और इसमें प्रकारान्तर के अलावा भेद क्या है ? फिर क्यों एक क़ानूनन दण्डनीय और दूसरी सौ फीसदी जायज़ है ? अन्धे समाज का क्या यही अन्धा-न्याय है ?

अस्पताल में भर्ती हुए मरीज़ों से मिलने का समय तीसरे पहर ४ बजे से था। मेरे लिये चन्द घण्टों का यह समय युगों-सा

था। घड़ी देख-देख कर बड़ी मुश्किल से एक-एक मिनट गुजार रहा था। आखिर ३॥ बजे अस्पताल का पता-ठिकाना पूछ कर मैं घर से निकल पड़ा। चार बजते ही आगन्तुकों के लिये अस्पताल का फाटक खुल गया। पूछ-ताछ करने पर मुझे राधा का कमरा भी मिल गया। धीरे से दरवाजा खोल कर मैं भीतर घुसा। भीतर मैंने जो कुछ देखा, उसे ठीक-ठीक कह नहीं सकता। भय और दुःख से मैं काँप उठा। रोंगटे सब खड़े हो गये? भ्रम हुआ कि कहीं मैं किसी दूसरे के कमरे में तो नहीं आ गया हूँ। देखा राधा का मुँह एकदम सूख गया है आँखें भीतर धँस गई हैं, मांस कहीं दिखाई नहीं पड़ता। जङ्गल या श्मशान में पड़ी खोपड़ी और उसके चेहरे में सिर्फ इतना ही अन्तर था कि वह हड्डियों का ढाँचा मात्र होता है, और इसमें उस पर अभी चमड़ी चढ़ी हुई थी। राधा से हाँथ-पाँव सूखी हुई लकड़ी की तरह देख पड़ते थे। मेरे आने से राधा के चेहरे पर कोई परिवर्त्तन नहीं देख पड़ा! मैं उसके पास गया। उसके चेहरे को घूरते हुए मैंने आर्द्र-स्वर में कहा—'राधा, तुम्हें यह क्या हो गया? तुमने मुझसे अब तक यह बात छुपाई क्यों? आखिर तपेदिक़ एक दिन मे तो बढ़ नहीं जाती। तुम मौत से खेलती रहीं और मुझे ख़बर तक नहीं।'

'भैया' राधा ने सूखे हुए होठों को हिला कर टूटती हुई आवाज़ में कहा—'अपना-अपना भाग्य है। मेरे भाग्य में यही बदा था। तुम्हें या पिता जी को लिखकर व्यर्थ परेशान करना मैंने ठीक नहीं समझा। इलाज में इन लोगों ने भी कोई कोर-

कसर नहीं रक्खी। पर जिसने अपने आपको मुर्दा समझ लिया हो, जो अपने आपको मार डालने पर उतारू हो, उसे दवाइयाँ तो क्या सञ्जीवनी बूटी भी जीवित नहीं रख सकती। मेरी ज़िन्दगी से मौत अधिक सुखकर होगी, ऐसा मेरा अनुभव है।' बोलते-बोलते राधा का दम फूल गया था। एक ठण्डी साँस लेकर वह चुप हो गई। उसकी कोटरलीन निष्प्रभ आँखों में पानी झलकने लगा। ललाट पर पसीने की बूँदें भी चमकने लगीं।

मैं हतबुद्धि-सा यह सब सुनकर पत्थर की मूर्त्ति की तरह मौन था। बड़ी कठिनाई से अपनी रुलाई को दबाते हुए मैंने कहा—'राधा, तुमने अपने आप पाँवों पर कुल्हाड़ी क्यों मारी? क्या जीवन इतना निकृष्ट और सस्ता है?'

'मुझसे विशेष बोला नहीं जाता भैया'—राधा ने ओठों ही ओठों मे कहा—'अब इन बातों को जाने भी दो। आख़िरी वक़्त तुम आ गये, अच्छा ही किया। तुम्हें बिना देखे मैं शान्ति से नहीं मर सकती थी। मेरी साँस के अब तक चलने का कारण तुमसे मिलने की इच्छा ही थी—अब यह कभी भी टूट जाय, मुझे चिन्ता नहीं।'

'यह तुम क्या कह रही हो राधा? डॉक्टरों ने कहा है तुम अच्छी हो जाओगी।'

'डॉक्टर कुछ भी कहें, मैं जो कुछ कह रही हूँ, वह ठीक है। अब आख़िरी वक़्त मुझे भुलावा क्यों देते हो?'

मैं निरुत्तर हो गया। मेरी आँखों से टप-टप आँसू गिर रहे थे।

(७)

राधा की अन्त्येष्टि क्रिया से निवृत्त हो जब हम लोग लौटे, तो शोक, सहानुभूति और समवेदना प्रकट करने वालों का ताँता बँध गया। सबने आकर इस अर्थहीन लोकोपचार की पुनरावृत्ति की और सफाई के तौर पर बहनोई साहब ने जरा उदास होकर कह दिया—'जी हाँ, उसे तपेदिक़ हो गई थी। तीन साल तक इलाज कराया, हजारों रुपये दवा-दारू में फूँक दिये, पर विधाता के लेख के आगे किसका बस चल सकता है।' दो-चार बड़े-बूढ़ों ने इसकी ताईद की और कहा—'साहब यह बीमारी ही ऐसी है कि जिसे लगती है, उसे अपने साथ लेकर ही जाती है।'

'उसे तपेदिक़ होगई थी।' यह सुनते-सुनते मेरे कान पक गये। बड़ी मुश्किल से क्रिया-कर्म तक मैं अपने बहनोई के घर ठहरा और उसके समाप्त होते ही अपने घर की राह ली। चलते समय बहनोई ने बड़ी सहृदयता से कहा—'पिता जी को बतला दीजियेगा कि उसे तपेदिक़ होगई थी। क्या किया जाय, ईश्वर की यही मर्जी।'

मैं बिना कुछ उत्तर दिये बाहर निकल आया।

कुल की मर्यादा

'माँ! आज तुम उदास क्यों बैठी हो?'

'अपने भाग्य को झींख रही हूँ बेटा, और क्या है?'

'क्यों? ऐसी क्या बात है?'

'बात क्या कोई नई है? जो सदा होती है, वही आज भी है।'

'आखिर कुछ कहो भी—'

'कहूँ क्या अपना सिर? आजकल कलजुग है बेटा, कलजुग। बहू-बेटे बड़े-बूढ़ों का कहा-सुना तो कुछ मानते ही नहीं—अपनी मनमानी किया करते हैं।'

'तो मैंने ऐसा क्या किया?'

'तूने नहीं तो तेरी औरत ने तो किया।'

'आखिर ऐसा क्या किया?'

'किया क्या, उसे भी अब जमाने की हवा लग रही है।'

'अरे पर उसने ऐसा क्या किया ? कुछ कहोगी भी या भूमिका ही बाँधे जाओगी ?'

'जब वह मेरा कहा ही नहीं मानती, तो कहकर क्या करूँ ?'

'इस लम्बी-चौड़ी भूमिका से मैं कुछ नहीं समझता। जो बात हो साफ़-साफ़ कहो।'

'वह सबेरे से न जाने कहाँ गई हुई है ? न पानी का पता है न रोटी का।'

'तो तुमने उसे जाने क्यों दिया ?'

'मैं होती तो उसे क्यों जाने देती। मैं कुछ काम से सुकुलाइन के पास चली गई थी, और उससे कह गई थी कि अभी बब्बू आता होगा, तू पानी-सानी लाकर रोटी बना लेना। पर मेरा कहा भला वह क्यों मानने लगी ?'

'अच्छा, तो आज उसे आने दो।'

'आने पर क्या तू उसके लाल थोड़े ही तोड़ लेगा ? वह तो रोज़ ऐसे ही किया करती है। घर में तो उसका पाँव टिकता ही नहीं। इस पुरवा मे रहते अपनी सात-आठ पीढ़ियाँ हो गईं, पर कभी कोई औरत घर से बाहर तक नहीं निकली—निकलना तो दूर रहा थोड़ा-सा बाहर झाँकने पर भी आफ़त आ जाती थी। एक बार अपने पिछवाड़े से कोई बारात जा रही थी, मैं खिड़की से झाँक कर उसे देखने लगी। इसी समय कहीं तेरे बाप की नज़र मुझ पर पड़ गई। बस, फिर क्या था ? उन्होंने लात और

घूँसों से मुझे ऐसा पीटा कि मैं अधमरी हो गई। तब से मैंने कभी बाहर देखने का नाम भी नहीं लिया। पर अब के लोगों में इतना दम कहां? वे तो जोरू के ग़ुलाम होकर रहते हैं।'

'तो क्या मै उसे ऐसा करने को कहता हूँ?'

'कहता नहीं तो क्या, तू उसका पति है, उसे मान-मरजाद से तो रख सकता है।'

'सो मैं बराबर उसके अनुचित कार्यों के लिये उसे समझाता-बुझाता रहता हूँ।'

'क्या खाक होता है। तूने तो उसे सिर पर चढ़ा रक्खा है, नहीं तो उस बेचारी की क्या मजाल जो घर से पाँव भी बाहर निकाले। बहू-बेटियाँ तो सभी घरों मे होती हैं, पर ऐसी कुलटाएँ तो नीच घरों में भी शायद ढूँढ़ने पर ही मिलेंगी।'

'तो आखिर मैं करूँ क्या? उसे कहीं आने-जाने न दूँ? ताले में बन्द रक्खूँ? पाँव में बेड़ी डाल दूँ?'

'इसमे बन्द रखने या बेड़ी डालने की क्या बात है? उसे जरा डरा-धमका कर रक्खा कर। तू तो कभी उसके फूल की छड़ी तक नहीं छुआता।'

'तो क्या रोज आते-जाते—बिना कारण ही—उसके दो-चार लात-घूँसे मार दिया करूँ?'

'अगर किसी तरह न माने तो ऐसा करना भी कुछ अनुचित नहीं है। आखिर बहू को मान-मरजाद से रखना ही होगा।'

'माँ, तुम भी क्या लड़कपन की-सी बातें करती हो ? अब जमाना नहीं रहा जब औरतों पर इस प्रकार का अत्याचार करना औचित्यपूर्ण समझा जाता था ?'

'बेटा, जमाना तो कहीं नहीं बदला, आदमी बदल गये। जब तू ख़ुद ही उसकी शै बोलेगा तो भला वह क्यों मानने लगी ? ख़ैर, कहने-सुनने का फर्ज मेरा है, करना न करना तेरी मर्ज़ी की बात है। मुझे तो यही आशङ्का है कि तेरी गृहस्थी न जाने कैसे चलेगी ?'

'क्यों ?'

'क्यों क्या, वह तेरे कहने मे तो जरा भी नहीं चलती। अभी तो जब तक मैं बैठी हूँ, उसके जी में भी कुछ डर रहता है, फिर देखना अगर वह खुल्लमखुल्ला वेश्याओ की तरह बाज़ारों में न घूमे तो...!'

'पर माँ, बाहर निकलना तो कोई पाप नहीं है ?'

'पाप ? पाप नहीं बड़ा पुण्य है। पर बावले इससे कुल की मर्यादा तो नष्ट होती है। आगे भी कभी ब्राह्मण-ठाकुरों की औरतें यों कनकौए की भाँति घूमती-फिरती थीं ?'

'ख़ैर, आज उसे आनें दो। मैं भली भाँति समझा दूँगा, फिर ऐसा न करेगी।'

'भला लातों की देवी भी कभी बातों से मानती हैं ? तू तो उसके सामने सियार की भाँति दब कर रहता है, कहीं ऐसे भी

काम चलता है ? जरा अच्छी तरह उसकी खबर लिया कर, नहीं तो यह अवारा हो जायगी।'

'अच्छा, आज तुम्हारे सामने ही उसकी खबर लूँगा।'

(२)

वस्त्रादि उतार कर बब्बू हाथ मुँह धोने लगा। उसकी माँ अब भी 'फ्लोरमिल' की भाँति बड़बड़ा रही थी। शीतल समीरण के झोंको में मिलकर उसके मधुर आलाप का स्वर पड़ोसियों को कितना आनन्द देता होगा, इसके लिखने की आवश्यकता नहीं। इसी समय एक वयस्क स्त्री ने घर मे प्रवेश किया। बब्बू की माँ ने बड़ी उत्सुकता से पूछा—'बिट्टो, बहू कहाँ है ?'

'वह तो रामप्यारी के साथ गंगा नहाने गई है।' बिट्टो बोली—'अभी आती होगी, मुझे अभी-अभी रामप्यारी के घर के पास खड़ी मिली थी।'

'तो फिर वह कहाँ रह गई ? अभी तक क्यों नहीं आई ? क्या पाँव मे छाले पड़ गये हैं या पाँव गिन-गिनकर रख रही है।'

बिट्टो इन बातो मे पूरी चट थी। ऐसे उपयुक्त अवसर को हाथ से खोना मूर्खता समझ कर वह बोली—'अम्मा, बहू की कुछ न पूछो। वह न जाने सखी-सहेलियों के साथ कहाँ-कहाँ घूमती-फिरती है ? गंगा नहाने का तो तुम्हारी और भैया की आँखों मे धूल झोंकने के लिये बहाना है। क्या तुम से कुछ भी नही कहती हो ?'

'कहूँ क्या बेटी, मुझे तो यह कुछ समझती ही नहीं, जब हो बिना कहे-सुने जहाँ जी चाहे चल देती है।'

'बाप रे बाप, इतना अन्धेर है तुम्हारे घर में ? आजकल तो औरत को घर से बाहर निकलने देने का भी धरम नहीं है। फिर तुम्हारी कल की आई हुई बहू—अभी से इतनी आजादी ?'

'क्या कहूँ बेटी मेरे तो नाक में दम हो रहा है। मैं तो समझा-समझा कर हार गई, पर उसका पाँव कभी घर में टिकता ही नहीं। जहाँ भाई-बिरादरी में जाती हूँ, लोग नाम धरते हैं। जब से तुम्हारे दादा (बड़े पंडित) का वैकुण्ठवास हुआ है, सारा घर बरबाद हो गया। मैं तो बेटी, इन्हीं चिन्ताओं से कुढ़-कुढ़ कर गली जा रही हूँ। बुढ़ापे में भी दई का यह कोप ? मेरे भाग्य में यही बदा है, क्या करूँ ?'

'क्या भैया भी उसे कुछ नहीं कहते ?'

'बेटी, उसका कुछ न पूछ। वह तो दिन-रात भङ्ग-गाँजे में ऐसा पागल हुआ रहता है कि तीन-तीन चार-चार दिन तक घर नहीं फटकता। अगर उसमें पाँव होते तो यह चुड़ैल ऐसे फिरती ?'

'उफ् ! यह तो बड़े गजब की बात है। कहीं बिरादरी वाले यह सब सुनेंगे तो क्या कहेंगे ?

'बेटी, मैं तो भगवान से रात दिन यही प्रार्थना किया करती हूँ कि मेरे जीते जी बड़े पण्डित की लाज रह जाय तो अच्छा है। पीछे तुम्हारे भैया जानें और इनका काम जाने।'

'न जाने तुम्हारे बाद कैसे यह घर चलेगा ?'

'देखो, परमात्मा सब का मालिक है।' बब्बू की माँ ने एक ठण्डी साँस छोड़ते हुए कहा।

दुर्भाग्यवश इसी समय बब्बू की बहू भी आ पहुँची। उसे क्या मालूम था कि उसके स्वागत की तैयारियाँ यहाँ पहले ही हो चुकी हैं। सबसे पहला वार बिट्टो ने किया—'जीजी, तुम बड़ी आवारा होती जा रही हो, किसी के कहे-सुने का कोई असर ही नहीं। जानती नहीं आज कल कैसा ख़राब ज़माना है ? बहू-बेटियों का घर से निकलने का धरम नहीं है ?'

बहू अभी कुछ बोलने भी नहीं पाई थी कि बब्बू की माँ ने आगे बढ़ कर उसके दो-तीन लात घूँसे जमा दिये और उसका कान उमेठते हुए बोली—'क्यों री छिनाल, आज सुबह से कहाँ गई थी ? मैं कुछ कहती-सुनती नहीं, इससे सिर पर ही चढ़ी जाती है ?'

बहू का शरीर एकदम सुन्न पड़ गया। काटो तो ख़ून नहीं। उसके पाँवों के नीचे से मानो धरती खिसक गई। उसके मुँह से एक भी शब्द नहीं निकला। भय के आगे वह अपनी सास की मार भी भूल गई। उसे चुप देख बुढ़िया ने उसके गाल में चुटकी लेते हुए कहा—'क्योंरी, चुप क्यों हो गई ? बोलती क्यों नहीं, क्या दम निकल गया ?'

'राम......प्यारी......ने......गङ्गा......' बहू ने बड़े दबे स्वर में कहना आरम्भ ही किया था कि बुढ़िया ने उसके सिर

पर एक धौल जमाते हुए कहा—'हाँ, गङ्गा नहाने गई थी! क्यों, आज गङ्गा नहाने का क्या महात्म्य था? तेरा बाप मर गया था या माँ? दिन भर घर का काम तो मैं करूँ और यह चुड़ैल रानी बन कर मौजें मारती फिरे, जैसे मैं इसकी ख़रीदी हुई लौंड़ी-बाँदी हूँ।'

इसी समय बब्बू भी आ पहुँचा। अब क्या था, त्रिशङ्कु बनी अकेली बहू इन तीन यमदूतों के बीच में घिर गई। बब्बू ने बड़े जोर से एक लात बहू के मारी, जिससे चक्कर खाकर वह चारों खाने चित्त जा पड़ी। गिरते समय, एक पत्थर उसके सिर के नीचे आ गया, जिससे उसका सिर फूट गया और उससे ख़ून बहने लगा। गिरी हुई दशा में ही उसके दूसरी लात मारते हुए बब्बू बोला—'ले, कैसा मजा मिला गङ्गा नहाने का! कल फिर जाना! इस हरामज़ादी को लाख बार समझाया-बुझाया, पर कोई असर ही नहीं होता। न जाने, मेरे भाग्य में यह कुलटा कहाँ से लिखी थी! घर-घर मेरी नाक कटाती फिरती है। कुलकी मान-मर्यादा का तो इसे जैसे कुछ ध्यान ही नहीं है। क्योंरी, आज गङ्गा नहाने का कौन सा परब था!'

'मै तो नहीं जाती थी'—बहू ने धीमे स्वर में रोते हुए कहा—'पर रामप्यारी क़सम दिला कर ज़बर्दस्ती ले गई।'

'अच्छा, आज से यह रामप्यारी मेरे घर में पाँव रख ले तभी जानूँ। पर तू कैसे उसके कहने से चली गई री, जानती नहीं घर का काम कौन करेगा?'

'काम तो मैं सब कर गई थी।'

'क्या अपना सिर कर गई थी! माँ कहती है कि न पानी है न रोटी। फिर तूने किया क्या पत्थर?'

'किया कैसे नहीं, सब बर्तन माँज कर, पानी भर कर और रोटियाँ करके अलिया में रख गई थी।'

कुछ क्रोध एवं आश्चर्य से बब्बू माँ की ओर देख कर बोला।—'माँ, यह क्या कह रही है?'

'सब ठीक ही कहती होगी।' माँ ने रुखाई से कहा 'यह झूँठ थोड़े ही बोलेगी?'

'नहीं, मैं जानना चाहता हूँ कि वास्तव में जो कुछ यह कहती है, वह ठीक भी है या योंही इसे पिटवाने को तूने मुझे भड़काया था?'

बब्बू की माँ कुछ न बोली।

बब्बू ने आगे बढ़ कर देखा—सब घड़े भरे थे, बर्तन भी मँजे थे और रोटियाँ भी अलिया मे पड़ीं थीं। उसका मुँह क्रोध से तमतमा उठा। वह मूर्ख अवश्य था और नशेबाज़ भी—पर इतना नहीं, जितना बिट्टो और उसकी माँ उसे समझ रही थीं। उसने कड़क कर कहा—'माँ! तुम बड़ी हो, पूज्य हो, तुमने अपने बाल धूप में नहीं बल्कि अनुभव से पकाये हैं। मैं तुमसे क्या कहूँ? पर इतना अवश्य कहूँगा कि तुम्हें झूँठ

बोलना—फिर इस साधारण-सी बात के लिये—शोभा नहीं देता।'

'क्यों नहीं, मैं तो सारी उम्र झूँठ ही बोलती रही हूँ, सच तो तेरी लुगाई ही बोलती है?'

'तो तुमने सच कहा था कि रोटी-पानी का कुछ पता नहीं?'

'मैं कोई देखने थोड़े ही बैठी थी? यहाँ कुछ नहीं देखा तो कह दिया।'

लाल-लाल आँखों से अपने होठ काटता हुआ बब्बू बहू को लेकर अस्पताल की ओर चला।

(३)

मेघमालाएँ उठीं; कुछ बरसीं और कुछ बिना बरसे ही चली गईं। समझौते के रूप में सविनय-अवज्ञा आन्दोलन का अन्त हो गया। आन्दोलन में भाग लेने के कारण बब्बू को ६ मास की सजा हुई थी, किन्तु गाँधी-अरविन समझौते के कारण वह अवधि से १॥ मास पूर्व ही छोड़ दिया गया। वह एक सरकारी दफ़्तर में दफ़्तरी था। जेल से छूटने पर बब्बू जब अपने दफ़्तर गया तो उसके 'साहब' ने कहा कि उसका नाम कभी का काट दिया गया है, और अब सज़ायाफ़्ता होने के कारण उसे पुनः नौकर नहीं रक्खा जा सकता। बब्बू निराश होकर घर आ बैठा। और चारा ही क्या था?

बब्बू प्रथम श्रेणी का पियक्कड़ और लट्ठबाज़ था। उसके समान उद्दण्ड प्रकृति के पुरुष के लिये निश्चेष्ट और बेकार होकर बैठना उतना ही कठिन था, जितना बिना भोजन के जीना। घर वालों—माँ और बहू—के अतिरिक्त कभी-कभी उसकी पड़ौसियों तथा अन्य गाँव वालों से भी तकरार हो जाती थी। भूखे को भोजन और नशेबाज़ को नशा चाहिये ही, फिर बब्बू कहाँ तक अपनी इस प्रवृत्ति को रोकता ?

आज बब्बू अपने एक पड़ौसी महाजन की गर्दन पर अपनी उद्दण्डता की जङ्गदार तलवार पर धार चढ़ा कर आया था। उसका पारा अभी तक चढ़ा हुआ था। उसे प्यास लगी थी। उसने अपनी बहू को दो-तीन बार पुकारा, पर कोई उत्तर न मिला। न जाने गङ्गा-स्नान की भाँति आज भी वह कहाँ गई थी ? दुर्भाग्य और प्रारब्ध दोनों मिल गये। बब्बू ने जाकर अपनी माँ से पूछा—'माँ, वह आज फिर निकल गई क्या ?'

बुढ़िया पर निरक्षरता और सठियाई-बुद्धि का रङ्ग अब और भी अधिक चढ़ चुका था। लाख कहने-सुनने पर भी वह अपनी जिह्वा का स्वाद सहज ही में खोना नहीं चाहती थी। तुरन्त मुँह बना कर बोली—'बेटा, तू फिर मेरे मुँह वही बात कहलाने आया है ? उस दिन भी, देख, उसके पीछे कितना कलह हुआ था और नाहक मुझे भला-बुरा सुनना पड़ा था। अब मैं बार-बार तुम दोनों के झगड़ों में पड़ कर अपने जी का जहान नहीं करना चाहती। तू जाने और तेरा काम जाने।'

'तो वह आज फिर तुमसे बिना पूछे ही चली गई ?' बब्बू ने दाँत पीसते हुए पूछा।

'और नहीं क्या, न तब पूछा, न अब। मुझे तो वह कुछ समझती ही नहीं।' बब्बू की माँ ने गम्भीरता से कहा।

(४)

रात को लगभग १० बजे अपना जंगी लट्ठ लिये हुये बब्बू गश्त-गश्त से लौटा। उसने दरवाजा खटखटाया। उसकी बहू ने जाकर दरवाजा खोल दिया और उसे बन्द करने को कुछ हट कर वहीं खड़ी हो गई। उसे देखते ही बब्बू की आँखों में खून उतर आया और उसने रोष में कहा—'क्योंरी, आज तू फिर कहाँ निकल गई थी ?'

बहू ने अभी सिर भी न उठा पाया था कि अचानक एक लट्ठ आकर जोर से उसके सिर पर पड़ा। हुआ वही जो ऐसे प्रहारों से होता है। उसका सिर फट गया और वह पृथ्वी पर गिर कर छटपटाने लगी। बब्बू ने आवेश में आकर—बिना आगा-पीछा सोचे—लट्ठ मार तो दिया था, पर अब उसे भय हुआ कि हाथ जरा जोर-का पड़ा था, कहीं चोट अधिक तो नहीं लगी ? ऐसा न हो कि परिणाम भयङ्कर हो। आँगन में खून ही खून फैल गया और कुछ क्षण के बाद ही उसकी अभागी बहू की चेष्टाएँ बन्द हो गईं। परमात्मा ने उसे संसार के पर्दे पर से उठा लिया।

बहू को निश्चेष्ट देख कर बब्बू ने अपनी माँ को पुकारा—'माँ, ज़रा आना तो। लालटेन लाना, देखना बहू को क्या हुआ।'

उसकी माँ लालटैन लेकर दौड़ी। बहू का खून से लथपथ शव देख कर वह आश्चर्य से चिल्ला उठी—'कौन, बहू? हाय! बेटा यह क्या हुआ?'

बेटा कहता क्या? दोनों आँखें फाड़-फाड़ कर उसकी ओर देख रहे थे। रक्तकीच में पड़ा उस अबोध अरक्षणीया युवती का शव हिन्दू-समाज को कोस रहा था!

आज बुढ़िया के पूत ने अपने कुल की मर्यादा रखली!

माँ

ओह ! वह रात्रि थी या कालरात्रि ! चारों ओर सघन-अन्धकार छाया था। साँय-साँय करती हुई लता-गुल्म और वृक्षावलियों से टकराती, कुलटा के कर्कश-शब्द-सी, तेज हवा चल रही थी। चारों ओर घोर निस्तब्धता थी—नीरवता थी—कभी-कभी वन्य-पशुओं की चीत्कार वनदेवी को प्रकम्पित कर नीरवता को चीरती हुई, वायु के सनसनाटे में मिल जाती थी। सहसा अपने वक्षस्थल को चीर कर अन्धकार ने कहा—'माँ !'

वीर-प्रसविनी, वीर-जननी, वीर-ललना, वीर-माता ? क्यों ?? किसने पुकारा ???

कुछ देर तक शान्ति रही। वायु के फड़कते हुए अधरों ने फिर पुकारा—'माँ !'

गर्व से अपना हिमाच्छादित-मस्तक उठाये, गगनस्पर्शी पर्वत-शिखाओं ने हँस कर कहा—'माँ !'

अपनी लोल-लहरों से कूल के वालुका-कणों को छितराती, मुग्धा की मुस्कान-सी, मस्त भाव से वहती हुई कलकल-निनादिनी-सरिता ने मोतियों की थाली उछालते हुये कहा—'माँ !' पर्वत-कन्दराओं को काटकर बहते हुये निर्झरों ने अपने क्षीण-कण्ठों की स्वर-लहरी के तारों को मिला कर कहा—'माँ !'

श्मशान में सोये हुये अस्त-व्यस्त मुर्दों की भाँति, भू-रेत-कणों ने वेदना से कराहते हुये कहा—'माँ !' दशों-दिशाएँ गगनभेदी-स्वर में चिल्ला उठीं—'माँ ! माँ !! माँ !!!'

× × ×

पौ फटी। प्रातः-सूर्य के प्रकाश की दुग्ध-धाराओं से वायु-मण्डल चमक उठा। पशु-पक्षियों ने उदासीनता से विहाग छेड़ा। वनश्री ने सिसकते हुये आहों का तूफान उठाया। कराहते-कराहते प्रातः-समीर ने रुदन आरम्भ किया। अयँ ! यह क्या ? प्रकृति के इस सुवर्ण-कानन में, इस मस्तानी एवम् आनन्दप्रद प्रभात-वेला में, इस हरी-भरी वसन्त-वाटिका में आज यह रोना क्यों ? बहुत देर तक विचार-विमर्श करने पर ज्ञात हुआ—यह न वसन्त-वाटिका है, न प्रकृति का सुवर्ण-कानन ही ! वरन् यह वह स्थान है जिसे विद्वज्जन कारागार, कारावास, कारागृह, कृष्ण-मन्दिर प्रभृति नामों से पुकारते हैं। सचमुच वड़ा बीहड़ स्थान है यह !—पर बड़े ध्यान से, बहुत देर तक दृष्टि गड़ाने पर भी कहीं कोई सन्तरी, चहारदीवारी अथवा लोहे के सीखचे दिखाई नहीं पड़ते थे। न जाने कैसा अद्भुत है यह कारागार !

हाँ, अब समझा। वास्तव में यह कारागार है। मानवी नहीं ईश्वरीय कारागार है। पूर्व पश्चिम, और उत्तर में यमराज की भाँति विशालकाय वज्रदेही-पर्वतों की दीवारें हैं, दक्षिण में अनन्त जल है—अगाध सागर है—जिसकी घनघोर गर्जन करती हुई अनन्त-लहरें मानों बन्दियों सहित कारागार को निगल जाने के लिए उत्सुकता से आगे बढ़ती चली आ रही हैं। ओह ! कैसा वीभत्स है यह कारागार ; पर इसमें कोई बन्दी तो नहीं देख पड़ता ! क्यों ? न जाने।

सूर्योदय हुआ। सहसा कानन के हरित-अवगुण्ठन को चीर कर एक रमणी दौड़ती हुई आयी और मैदान में आकर रुक गई। अधीर दृष्टि से उसने चारों ओर देखा। उसके पीछे एक नग्न शिशु 'माँ-माँ' पुकारता हुआ दौड़ा चला आ रहा था। अकस्मात् रमणी की कुटिल भौंहें तन गयीं। नेत्रों से मानो अग्नि-स्फुलिंग बरसने लगे, माधवी लता की भाँति उसकी कोमल देह काँप उठी ! शिशु रोने लगा। रमणी के नेत्रों की पुतलियाँ ऊपर चढ़ गईं— उसके पाँव लड़खड़ाने लगे। एकाएक वह धड़ाम से पृथ्वी पर गिर पड़ी। शिशु दौड़ कर उसकी छाती से लिपट गया और उसके स्तन से मुँह लगाकर दुग्धपान करने लगा।

एक-दो-तीन—पूरे तीन प्रहर व्यतीत हो गये। रमणी की मूर्च्छा भङ्ग हुई। दोनों हाथों से आँखें मलती हुई वह उठ बैठी। शिशु पास में चुपचाप बैठा था। माँ को उठते देखकर वह उसकी

और बढ़ा। माता ने उसको चूम कर अपनी छाती में छिपा लिया। शिशु ने पूछा—'माँ !'

'हाँ, लाल !' रमणी ने कुछ सँम्हल कर कहा।

'आज होली है न, माँ ?' बालक ने माता का मुँह ताकते हुए कहा।

'हाँ, आज पिशाचिनी हो...ली...है...ला...ल !' कहते-कहते माता का कण्ठ भर आया और वह फूट-फूट कर रोने लगी। उसके नेत्रों से दो गरम-गरम आँसू ढुलक पड़े। इन दो आँसुओं में ही उस अबला के दग्ध-हृदय का नीरव-इतिहास सङ्कुचित रूप में अन्तर्हित था। बेचारा शिशु माँ के इस निराशापूर्ण शोकोद्रेक से प्रभावित तो बहुत हुआ, पर समझ कुछ न सका। इन दो आँसुओं में क्या रहस्य छिपा है, कौन-सा मर्म भरा है, यह उसके लिये किसी जटिल-पहेली से कम न था। अपने सम्पूर्ण बाल-साहस को समेट कर उसने फिर प्रश्न किया—'माँ, तुम रो क्यों रही हो ?'

'नहीं लाल, रो तो नहीं रही हूँ। वैसे ही चित्त की उदासी से आँसू आ गये।'

'रो नहीं रही हो और आँसू आ गये ? यह कैसा रहस्य है, माँ ?'

माँ चुप हो रही। उसकी आँखें डबडबा आईं।

'माँ, तुम चुप क्यों हो रही ? आखिर तुम्हारा चित्त क्यों उदास है ? इन आँसुओं का क्या मर्म है ?'

'मर्म-वर्म कुछ नहीं बेटा। योंही आँसू आगये—और क्या बात है ?'

'नहीं माँ, बिना कारण के तो कोई कार्य नहीं होता। मुझे न बतलाओगी क्या ?'

'बतलाऊँ क्या बेटा ? तू भी न जाने आज कैसी पगली बातें करता है ? राजा-बेटा होकर इस तरह हठ करना तुझे शोभा नहीं देता।'

'तो मुझे नहीं बतलाओगी ?'

'छिः ! जाने दे इन व्यर्थ की बातों को। देख, दिन कितना चढ़ आया है—चलो चलें।'

(२)

'माँ, आज अपने यहाँ से कौन पूजा करेगा ?'

'कैसी पूजा, बेटा ? पूजा तो मन्दिरों में होती है।'

'वह नहीं। मेरा अभिप्राय होली से है। सुना है आज सब लोग होलिका-दहन से पूर्व उसकी पूजा करते हैं, अपने यहाँ से कौन पूजा करेगा माँ ?'

'अपने यहाँ से ? अपने यहाँ से तो………' यह कहते-कहते रमणी का गला भर आया और उसके नेत्रों से आँसुओं की झड़ी लग गई। वह अपने आपको अधिक देर तक नहीं सँभाल सकी। अतीत-गौरव की वैभवपूर्ण स्मृतियाँ उसके नेत्रों के सामने नाचने लगीं। उन आनन्दप्रद स्वर्ण-दिवसों की मधुर-कल्पनाएँ उसके

हृत्पट पर आकर अपनी लुभावनी-छटाएँ दिखाने लगीं। उसने चर्म और दिव्य दोनों चक्षुओं से देखा—उसका स्वर्ण-अतीत दरिद्रता का परिधान पहने वर्तमान बन कर उसे घूर रहा है। उसकी सारी सुध-बुध जाती रही। मूर्च्छावस्था ने उसे फिर आ घेरा—संज्ञाहीन होकर वह धराशायी हुई।

बालक पास मे खड़ा हुआ यह सब प्रक्रिया देख रहा था। किन्तु वह इसका कोई भेद न जान सका। ऐसी क्या बात है जिसे याद कर माँ इस प्रकार व्यथित हो उठती है—वह अवश्य ही आज इसका भेद जानेगा। उसने देखा—मूर्छितावस्था में भी माँ के फड़कते हुये अधर किसी अज्ञात-वेदना का नीरव-विहाग गा रहे हैं। उत्तप्त-श्वास-प्रश्वास किसी के लिये आहें भर रहा है।

अविरल-अश्रुधारा में करुणा-रस का अथाह समुद्र उमड़ रहा है। भाल पर श्रमसीकर-विन्दु हृदय के छालों को प्रतिविम्बित कर रहे हैं। और यह क्या ? भय से प्रकम्पित उसके रोम-रोम खड़े होकर पाशविक-शक्ति की दुहाई दे रहे हैं। उससे अब चुप न रहा गया। विचलित-द्विरद की भाँति चीत्कार कर वह अपनी माँ की छाती से चिपट गया। उस······के भग्नावशेष खण्डहरों ने भी उसी के सुर में सुर मिलाकर रोना आरम्भ किया। कुछ क्षण के लिये वह स्थान मानों साक्षात् करुणालय बन गया।

रोते-रोते कुछ क्षण, पल और पहर बीते। बालक भी चुप-चाप हुआ। माता की मूर्च्छा दूर हुई, उसने चारों ओर दृष्टि

दौड़ाई। देखा, उसके हृदय का टुकड़ा उसके पेट पर सिर धरे सिसकियाँ भर रहा है। माँ ने उसे चूमकर सान्त्वना देते हुए पूछा—'तू क्यों रोने लगा मेरे लाल ?'

लड़के ने आशा-भरी दृष्टि से माता की ओर देखा। फिर बिना उसके प्रश्न का कुछ उत्तर दिये बोला—'माँ! आज तुम्हारी यह क्या दशा हो रही है ? कहीं मैंने तुम्हें कोई कटुशब्द तो नहीं कह दिया है ? यदि ऐसा है तो मुझे क्षमा करो माँ !'

'बेटा क्या तेरे मुँह से भी कोई ऐसा शब्द निकल सकता है, जो मुझे कटु जान पड़े ? ऐसी कोई बात नहीं है। योंही कभी-कभी अपनी पुरानी बात याद कर मैं क्षुब्ध हो जाया करती हूँ !'

'तो वह कौन-सी बात है माँ ? मैं भी तो जानूँ।'

'उहूँ !'

'आज प्रातःकाल भी तुमने मुझे योंही टाल दिया था, पर अब तो बतलाना होगा माँ ! आखिर वह क्या बात है ?'

'वह न पूछ बेटा। उसे सुन कर सम्भव है तेरी और मेरी दोनों की दशा और भी बिगड़ जाय। तेरा जानना-न-जानना बराबर है। उसे जान कर ही तू क्या करेगा ?'

'तो क्या जानने पर भी मै कुछ नहीं कर सकूँगा ?'

'बेटा अभी तू कर ही क्या सकता है ?'

'यह न कहो माँ ! अदृष्ट की कौन कहे ? जो कार्य राजाओं से भी न हो उसे कभी-कभी नाचीज़ दास लोग कर गुजरते हैं।'

'यह सब सच है लाल ! पर अभी तू कुछ कर सकने योग्य नहीं है। जिद् न कर !'

'नहीं माँ ! अब तुम मुझे अधिक काल तक इस असमञ्जस में नहीं रख सकती हो। अब तो मैं वह बात जाने बिना नहीं रह सकता। तुम्हें सच-सच बतलाना होगा !'

'तो तू नहीं मानेगा ?'

'मानने-न-मानने की क्या बात है माँ ? मुझसे यह नहीं देखा जाता कि मेरे होते हुये भी तुम इस प्रकार दुरवस्था में कालयापन करो !'

'तो क्या तू सचमुच मुझे इससे मुक्त कर सकता है ?'

'क्यों नहीं ? संसार में असम्भव क्या है ?'

'बेटा तेरा अभी बचपन है, इसी से तू ऐसी बातें कर रहा है। तेरी यह आशा आकाशकुसुमवत् होगी। मुझे आहें भरते-भरते एक दो दिन नहीं, बल्कि बहुसंख्यक वर्ष बीत गये, पर किसी को तनिक भी दया न आई ! किसी ने मेरा दुःख-दर्द भी न पूछा। फिर बेटा, अब तुमसे मैं क्या आशा करूँ ? गड़े हुये मुर्दे उखाड़ने से क्या लाभ ?'

'पागल हुई हो माँ ? मुझसे आशा नहीं तो क्या उम्र भर इसी प्रकार रोती रहोगी ?'

'यदि भाग्य में यही लिखा हो तो कौन जाने ? और उपाय ही क्या हो सकता है ?

(३)

'माँ बाल-हठ पर विजय नहीं पा सकतीं। तुम्हें वह बात कहनी ही पड़ेगी।'

'लाल! कहने में तो मुझे कोई आपत्ति नहीं है; पर तू पहले सोच.........!'

'खूब सोच-समझ लिया है माँ! तुम कहो तो आखिर रहस्य क्या है?'

'अच्छा बेटा, अगर तू नहीं मानता है तो ले सुन, और कान खोल कर सुन—एक दिन की बात है यही होली का दिन था और तीसरे पहर का समय! एकाएक मस्त हाथियों की भाँति मेघों ने दौड़ कर नभोमण्डल को छा लिया। घटाटोप के साथ-साथ आकाश में भयानक गर्जन होने लगा। अन्धकार ने तमारि के मुँह पर कसकर एक ऐसा तमाचा मारा कि बेचारा सिर पर पाँव रख कर भागा। चातुर्यमय-चापल्य से चपला झिलमिलाने लगी। आँधी उठी और सहसा मूसलाधार वर्षा होने लगी। देखते ही देखते चारों ओर भारी कुहराम मच गया।

'वर्षा के कारण मैं बाहर न जा सकी। घर के कामों से छुट्टी पाकर मैं भी अपने 'वैभव कुटीर' में जा लेटी। नाना प्रकार के भय और आशङ्काओं ने मेरे मन को डाँवाडोल करना आरम्भ किया। मुझे नींद न आई और मैं इधर से उधर करवट बदलती रही। लगभग दो प्रहर रात बीते वर्षा कुछ कम हुई। नीरवता

धीरे-धीरे बढ़ने लगी। अकस्मात किसी ने आकर हमारे द्वार पर एक घूँसा-सा मारा। मैं कुछ न बोली। थोड़ी देर बाद फिर किसी ने द्वार खटखटाया। मैं एकदम ऐसी सुन्न हो गई मानो काठ मार गया हो। एक बारगी रोमाञ्च होकर मैं थरथर काँपने लगी। बड़ी तेज़ी से हृदय धक्-धक् करने लगा। फिर कुछ साहस कर उठी—ढूँढ़-ढाँढ़ कर दीप जलाया और द्वार के पास आयी। यहाँ आकर एक बार फिर जिह्वा और पाँव दोनों रुक गये। फिर दरवाज़ा खटका। इस बार मैंने बड़ा साहस कर पूछा—'कौन ?' दबी हुई आवाज़ मे उत्तर मिला—'एक निराश्रय पथिक।'

'पथिक के साथ 'निराश्रय' शब्द सुन कर मेरी छाती भर आयी। भय करुणा में और आशङ्का दया में परिणत हो गयी। बड़े परिश्रम से अपना कम्पित कर कुन्दे के पास ले जाकर मैंने द्वार खोला। अतिथि-सेवा मेरा ही नहीं, मेरे सब पुत्रों का भी परम-कर्त्तव्य समझा जाता है। अतः पाँव पखार कर मैंने पथिक को आसन दिया। कुशल-क्षेम पूछने के पश्चात् मैंने .परिचय की भिक्षा माँगी। मालूम हुआ वह किसी दूर देश से पैसे के चक्कर में पड़ कर व्यापारार्थ हमारे देश में आया है। उसका मुँह सूखा और उतरा हुआ था। पूछने पर ज्ञात हुआ कि उसे एक सप्ताह से भोजन नहीं मिला है। फागुन का महीना था—कड़ाके की सर्दी पड़ रही थी, वह सात दिनों से भूखा था—इस पर भी फिर बेमौसम की यह वर्षा! वह सर्दी से काँप रहा था—दाँत कट-कटा रहे थे। सब कपड़े भीगे थे। मैंने आँच जला कर उसके

कपड़े बदलवाये। उसके कम्पन, स्वर-भङ्ग और दीनता को देख कर मेरे हृदय में दया एवम् सहिष्णुता का अथाह सागर हिलोरें मारने लगा। आख़िर स्त्री का हृदय भीरु तो होता ही है—मैं पिघल गई और उसकी टहल-बन्दगी में लग गई।

'मैंने भोजन बनाकर उसे खिलाया—क्षुधा शांत होने पर उसके जी में जी आया, थकावट दूर हुई। मेरे घर में इधर-उधर घूम कर उसने प्रधान-प्रधान वस्तुओं का परिचय प्राप्त किया। मुझे सन्देह हुआ कि कहीं वह कोई गुप्तचर तो नहीं है, जो वेश बदल कर मेरे घर का भेद लेने आया है। पर जब उसने बड़ी नम्रता से हँस-हँस कर बातें कीं तो मेरा सन्देह प्रेम एवं सौजन्यता में परिणत हो गया। भोजन करने के थोड़ी देर बाद पथिक सो रहा। और दूसरे दिन पौ फटने से पूर्व ही बिदा माँग कर चल दिया। मैंने उससे बहुत कुछ परिचय प्राप्त करने का प्रयत्न किया पर जब-जब मैं उसके विषय में ऐसा कोई प्रश्न करती तो वह बात टाल कर मुझसे इधर-उधर की बातें पूछने लगता। प्रवञ्चना में आकर मैं अपनी बात भूल जाती। फलतः उसके विषय में मैं कुछ न जान सकी।'

(४)

'कई मास बीत गये। पथिक के आने-जाने की बात मैं ऐसी भूल गई मानो वह कभी हुई ही न हो। पर उसकी सूरत-शक्ल का थोड़ा-बहुत ख़याल अवश्य था।

'एक दिन की बात है। संध्या हो रही थी। मैं बैठी हुई भोजन बना रही थी। अकस्मात् वही पथिक अपने एक साथी सहित फिर आ पहुँचा। मुझे देखते ही उसने झुककर अभिवादन किया और हँसते-हँसते बोला—'माँ, आज तुम्हें थोड़ा सा कष्ट देने और चला आया। मुझे तुम भूल तो नहीं गईं? मैं वही तुम्हारा पूर्व-परिचित पथिक हूँ।'

'नहीं भैया, भूल कैसे सकती हूँ? आओ, यह घर भी तो तुम्हारा ही है।' कह कर पथिक को ठहरा लिया और मैं अपने काम में लग गई। आज मुझे पथिक की दशा में कुछ परिवर्त्तन देख पड़ा। देखा दीनता एवं नम्रता के स्थान पर उसके स्वभाव में उद्दण्डता एवं उच्छृङ्खलता अधिक थी। उसके वार्तालाप में भी स्वाभाविकता, नम्रता एवं मृदुता के स्थान पर कृत्रिमता, कटुता और हेकड़ी की बू आने लगी थी। उसकी दृष्टि में क्रूरता नाच रही थी—पर उस समय मैं इन सबको देख न सकी। जान पड़ा मेरी आँखें ही मुझे धोखा दे रही है। समझा-बुझा कर अपने मन को शान्त कर मैंने दोनों अतिथियों को भोजन कराया और शयनागार में सुला दिया। मै भी अपने स्थान पर जाकर सो रही!

'रजनी का अवसान समीप था। पौ फटने में अभी एक-डेढ़ प्रहर बाकी थी। मुझे पता नहीं कि सोने के पश्चात् कहाँ क्या हुआ। अनायास किसी के रोने का शब्द सुनकर मेरी निद्रा टूटी।

आँख खुलने पर चारों ओर क्या देखा······ओह! कहा नहीं जाता लाल······वह वीभत्स दृश्य!'

'माँ! तुम तो फिर वही भीरुता दिखाने लगीं—कहो तो सही आगे क्या हुआ?'

'किन शब्दों में कहूँ लाल—आगे क्या हुआ? हुआ यही जो सर्प को दूध पिलाने से होता है। देखती क्या हूँ कि मैं दीर्घ एवं सुदृढ़ जञ्जीरों से जकड़ी हुई अपने द्वार के पास पड़ी हूँ—बिलकुल नग्न! चारों ओर मारकाट और रक्तपात हो रहा है। जिस पथिक को 'निराश्रय' समझ कर मैंने आश्रय दिया था वह और वैसे ही अन्य कई लोग मेरे घर में लूटमार और मारकाट कर रहे हैं! मेरे घर में फूटे हुये बर्त्तन भी नहीं देख पड़ते थे। आखिर यह बात क्या थी—मैं समझ न सकी? और न अब तक समझ पाई हूँ।'

'बस, उसी दिन मेरा सुहाग-सिंदूर धुल गया। गोद खाली हो गई। सुख और सम्पत्ति ने ठोकर मार कर कहा—'चल दूर हट!' भाग्य ने मुँह ढँक लिया। गौरव एवम् वैभव ने कहा—'विदा!' मैं रोने लगी। पास में खड़े हुये एक सशस्त्र सैनिक ने मेरे सिर की ओर बन्दूक साध कर कहा—'चुप हरामजादी! अगर मुँह से चूँ भी निकाली तो देख अभी सिर जमीन में घुसेड़ दूँगा!' मैंने भय से आँखें मूँद लीं। उस दिन से मेरे घर पर—मेरी एक-एक चीज़ पर—उन्हीं आततायियों का अधिकार हो

गया। मैं तभी से कारागार में ठूँस दी गई और अभी तक अपने दुखी जीवन की घड़ियाँ गिन रही हूँ। तमाम शरीर सूख कर काँटा हो गया है। रो-रो कर नेत्रों का जल सूख गया है—अब आँसू भी नहीं आते।

'बस लाल, यही है मेरी आत्मकथा। यही वह होली का दिन था जिसकी आग में मैं ऐसी जली कि अभी तक नहीं पनप पाई हूँ और न शायद अब पनप सकूँगी। जिन अपने लालों से मुझे अपने पुनरुद्धार की आशा थी वे तो..........क्रूर कंस ने मुझसे छीन लिये। अब जो बचे हैं, वे कामुकता, फूट और अत्याचार की अग्नि में जले जा रहे हैं। देखें विधाता और क्या-क्या यन्त्रणाएँ देता है?'

माता ने ज्यों ही कहना बन्द किया—बालक का हाथ—मूछों पर तो नहीं, पर—जहाँ मूछें होती हैं—उस स्थान पर गया। उसकी सजल आँखें चमक उठीं।